मैत्रीभावना : मानसिक स्वास्थ्य एवं सुखी जीवन का चामत्कारिक योग

MAITRIBHĀVANĀ : THE MIRACLE YOGA OF MENTAL HEALTH AND HAPPINESS

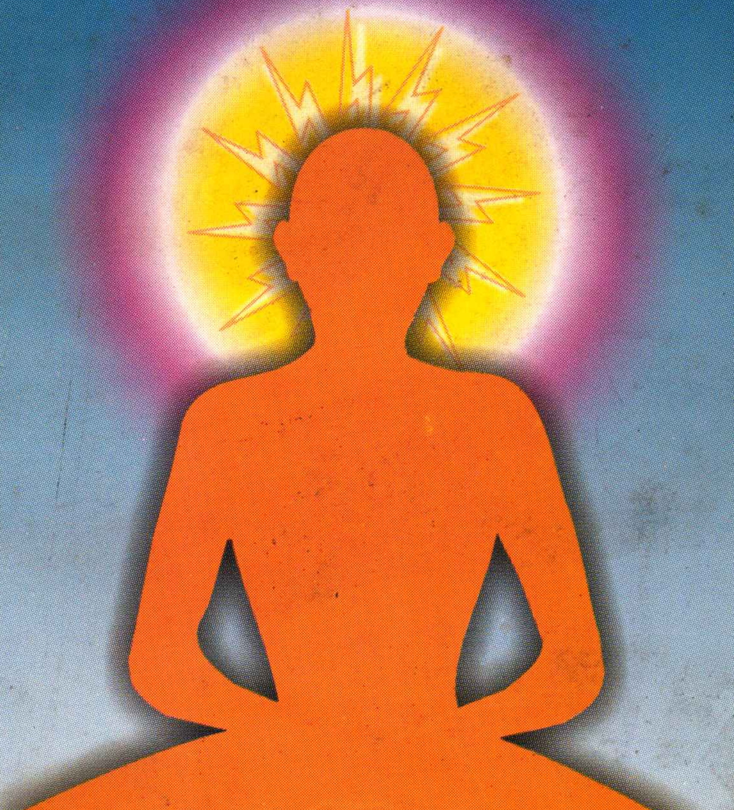

कमलाकर मिश्र

मैत्रीभावना : मानसिक स्वास्थ्य एवं सुखी जीवन का चामत्कारिक योग

(MAITRI BHĀVANĀ : THE MIRACLE YOGA OF MENTAL HEALTH AND HAPPINESS)

लेखक

कमलाकर मिश्र

अवकाशप्राप्त आचार्य एवं अध्यक्ष
दर्शन एवं धर्म विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी

काशी योग एवं मूल्य शिक्षा संस्था
आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च

काशी योग एवं मूल्य शिक्षा संस्थान, वाराणसी

(MAITRI BHĀVANĀ : THE MIRACLE YOGA OF MENTAL HEALTH AND HAPPINESS)

by

Prof. Kamalakar Mishra

प्रथम संस्करण : 2009
मूल्य : एक सौ पचास रुपये

सर्वाधिकार : काशी योग एवं मूल्य-शिक्षा संस्था

प्रकाशक

काशी योग एवं मूल्य शिक्षा संस्था

(Kashi Institution Of Yoga and Value-Education)

35, दीनदयाल नगर कालोनी, नवाबगंज
वाराणसी, (उ0प्र0) 221010
फोन : +91(542) 6529917
मो0 : 09450872823
Email : kashiyoga@gmail.com
mulyabodh@yahoo.co.in

मुद्रक

काबरा ऑफसेट्स
''श्री राम''
बी–6, रवीन्द्रपुरी, वाराणसी–22105

समर्पण

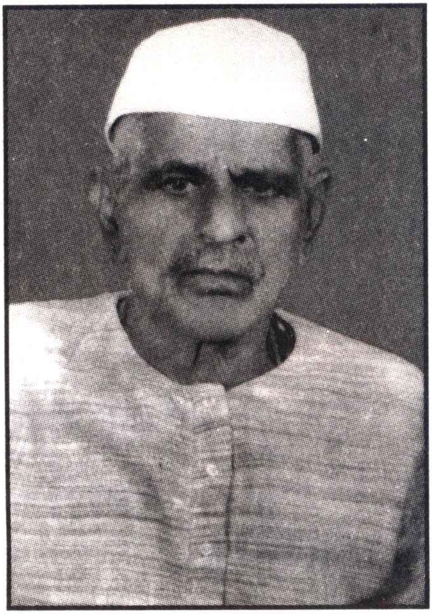

प्राचीन मैत्रीभावना को पुनर्जीवित करने वाले अपने परम प्रिय एवं परम श्रद्धेय गुरु प्रोफेसर लालजी राम शुक्ल, जिन्हें हम लोग प्यार से "बब्बा जी" (पिता जी) कहते थे, की पुण्य–स्मृति को यह पुस्तिका सादर समर्पित है।

"त्वदीयं वस्तु गुरुदेव तुभ्यमेव समर्पये"।

श्री स्वामी गुरुशरणानन्द जी

"काशी योग एवं मूल्य–शिक्षा संस्था" के संरक्षक श्री स्वामी गुरुशरणानन्द जी महाराज, जो प्रेम (मैत्रीभावना) के मूर्त रूप हैं, जिनके व्यक्तित्व से प्रेम (मैत्रीभावना) सबके प्रति स्वाभाविक रूप से प्रवाहित होते रहता है, अतः जो मैत्रीभावना के उदाहरण पुरुष हैं।

प्रस्तावना

कभी–कभी ऐसा होता है कि जीवन के लिए अति आवश्यक कोई वस्तु दृष्टि के सामने रहते हुए भी विचार से ओझल होती है और फलतः हम उस पर ध्यान नहीं देते एवं उसका लाभ नहीं उठा पाते। उसी की ओर ध्यान दिलाना जीवनशास्त्री का काम होता है। ''प्रेमभाव'' ऐसी ही वस्तु है। व्यावहारिक प्रयोगों एवं सैद्धान्तिक विवेचन से जो यह बात सामने आई है कि मानसिक स्वास्थ्य एवं सुखी जीवन के लिए प्रेमभाव अति आवश्यक है, यही इस विस्तृत आलेख (monograph) का प्रतिपाद्य विषय है।

प्रस्तुत आलेख में जो ''मैत्री'' (''मैत्रीभाव'', ''मैत्रीभावना'', पालिभाषा में ''मेत्ता'') शब्द का प्रयोग हुआ है वह पारिभाषिक (technical) अर्थ में है। सामान्य बोलचाल में 'प्रेम' शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया जाता है। वे सारे अर्थ इस आलेख में ग्राह्य नहीं हैं। 'प्रेम' शब्द का जो विशेष अर्थ यहाँ ग्राह्य है, उसी को पारिभाषिक अर्थ में ''मैत्री'' कहा जा रहा है।

शताब्दियों से मैत्रीभावना को व्यवहार में लाकर इसपर प्रयोग होते रहे हैं और निष्कर्ष रूप में यह पाया गया है कि मैत्रीभावना मानसिक स्वास्थ्य के लिए तो महौषधि (panacea) है ही, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सफलता एवं समृद्धि का कारक भी है। इसीलिए प्रेम (मैत्रीभावना) को जीवन का अमृत–रस (Elexir of Life) कहा गया है। व्यापक प्रयोग (experiment) और सत्यापन (verification) के आधार पर ही मैत्रीभाव स्थिर सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित हुआ है। स्वयं हमने भी अपने तथा दूसरों के जीवन में व्यक्तिगत एवं सामाजिक दोनों स्तरों पर मैत्रीभावना का अभ्यास एवं प्रयोग किया है एवं पूर्व मनोवैज्ञानिकों द्वारा प्रतिपादित मैत्रीभावना के सिद्धान्त को सत्य पाया है। अपने देश तथा दूसरे देशों के लोगों के साथ भी प्रयोग किया है। (मैं मैत्रीभावना के प्रचार प्रसार के लिए विदेश भी जाता रहता हूँ, विदेशियों में मैत्रीभावना का अधिक प्रभाव देखा गया है।) मैंने अपने मनोवैज्ञानिक गुरु प्रोफेसर पंडित लालजी राम शुक्ल की मानसिक चिकित्सा की परम्परा में भी काम किया है और मानसिक समस्याओं (रोगों) से ग्रस्त लोगों का सफलतापूर्वक मानसिक परामर्श (mental counseling) का काम किया है। हमने मानसिक स्वास्थ्य के क्षेत्र में मैत्रीभावना के अभ्यास की अद्‌भुत सफलता देखी है। मैत्रीभावना को

आधार बनाकर गाँवों की समुन्नति के लिए गाँवों में भी काम किया है (और अब नए सिरे से गाँवों में कार्य प्रारम्भ किया जा रहा है)। देखा गया है कि सामाजिक सौहार्द एवं परस्पर सहयोग की भावना में मैत्रीभावना के कारण वृद्धि हुई है।

उपर्युक्त बातों का उल्लेख करने का तात्पर्य यह है कि यहां जो मैत्रीभावना का सिद्धान्त दिया जा रहा है वह केवल आदर्श या कोरा सिद्धान्त या उपदेश नहीं है वरन् तथ्यों पर आधारित सत्य का ज्ञान है जिसे वैज्ञानिक की भाँति देख और जाँच कर प्राप्त किया गया है। विषयवस्तु की प्रस्तुति एवं विवेचना विवेकसंगत–बुद्धिसंगत (rational) एवं वैज्ञानिक ढंग से की गई है। वैज्ञानिक अपने निरीक्षण (observation) एवं प्रयोग (experiment) के द्वारा प्रकृति के रहस्य का ज्ञान प्राप्त करता है और बुद्धिसंगत ढंग से विश्लेषण कर सत्य को उद्घाटित करता है। फिर समाज उस सत्य से लाभ उठाता है। यही वैज्ञानिक विधा यहाँ अपनाई गई है।

उक्त विधा से प्राप्त मैत्रीभावना के बिन्दुओं, उपबिन्दुओं तथा अन्य प्रासंगिक बातों को क्रमबद्ध ढंग से रखकर उनकी प्रस्तुति एवं व्याख्या की गई है। मैत्रीभावना क्या है, उसके क्या अंग और उपांग हैं, उसके अभ्यास की क्या विधा है, उसके अभ्यास में क्या कठिनाइयाँ आती हैं और उनका क्या समाधान है, मैत्रीभावना के क्या लाभ हैं, मैत्रीभावना से आज के जीवन की कई जटिल समस्याओं का कैसे समाधान होता है, मैत्रीभावना के क्या पूरक अभ्यास हैं, आदि विषयों पर विस्तृत चर्चा की गई है। कोशिश की गई है कि विषय की प्रस्तुति सरल भाषा में बहुत सरल ढंग से हो जिससे पाठक को समझने में कोई कठिनाई न हो। कभी–कभी अंग्रेजी की शब्दावली से बात और भी स्पष्ट हो जाती है। अतः आवश्यकतानुसार अंग्रेजी शब्दों को भी कोष्ठकों में दे दिया गया है।

प्रस्तुति में एक बात ऐसी भी है जो प्रथम दृष्ट्या देखने में दोष के रूप में दिखाई दे सकती है। वह यह है कि कई स्थानों पर पुनरावृत्ति दीखती है। इस विषय में हमारा निवेदन है कि पुनरावृत्ति आवश्यकतानुसार जानबूझकर की गई है; वह इसलिए कि विषय और साफ हो जाय और सबसे बड़ी बात यह कि समझने में व्यामिश्रण (confusion) न हो। एक ही बात दूसरे स्थान पर भिन्न संदर्भ में कही जा सकती है और संदर्भ बदलने से उसका अर्थ बदल जा सकता है। ऐसे स्थान पर अर्थ का भ्रम न हो इसके लिए आवश्यक है कि विषय को साफ कर दिया जाय; उस सफाई के लिए कभी कभी पुनरावृत्ति की आवश्यकता पड़ती है।

हमें मैत्रीभावना के सिद्धान्त एवं उसकी अभ्यासविधा का बुनियादी ज्ञान अपने प्रथम गुरु प्रोफेसर पंडित लालजी राम शुक्ल से प्राप्त हुआ जब मैं उनका

छात्र था। शुक्ल जी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के शिक्षा संकाय में प्राध्यापक थे। शुक्ल जी दर्शनशास्त्र, मनोविज्ञान एवं शिक्षा–शास्त्र के सुलझे हुए विद्वान थे। वे राष्ट्रभक्त एवं समाजसेवी थे। स्वतंत्रता प्राप्ति के पहले वे स्वतंत्रता आन्दोलन से सक्रिय रूप से जुड़े थे। वे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्थापक महामना पं0 मदन मोहन मालवीय जी के प्रिय पात्रों में थे, मालवीय जी ने उन्हें विश्वविद्यालय की शिक्षा सेवा में ले लिया, उन दिनों विश्वविद्यालय में बहुत कम वेतन मिलता था; लोग मालवीय जी के प्रेम से आकर्षित एवं प्रेरित होकर कम वेतन में ही विश्वविद्यालय की सेवा करते थे।

शुक्ल जी विद्यार्थियों के भीतरी व्यक्तित्व निर्माण एवं मानसिक स्वास्थ्य की दिशा में सेवाकार्य करने लगे। वे पाश्चात्य मनोविज्ञान एवं भारतीय मनोविज्ञान इन दोनों की पद्धतियों के ज्ञाता थे। फ्रायड, एडलर, युंग, आदि पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों द्वारा प्रतिपादित "गम्भीर मनोविज्ञान" (Depth Psychology) एवं भारतीय आध्यात्मिक मनोविज्ञान के आधार पर वे मानसिक समस्या से ग्रस्त लोगों की निःशुल्क चिकित्सा सेवा करते थे। इस क्षेत्र में उन्होंने मैत्रीभावना का व्यापक प्रयोग किया और मैत्रीभावना का चामत्कारिक लाभ देखा। बाद में उन्होंने देखा कि मैत्रीभावना व्यक्तिगत मानसिक स्वास्थ्य एवं सुख–शान्ति के लिए तो आवश्यक है ही, वह सामाजिक नव–निर्माण का आधार भी बन सकती है। वे स्वयं बहुत वृद्ध हो चुके थे, किन्तु हम लोगों (अपने शिष्यों) को प्रेरित करते रहते थे कि मैत्रीभावना के आधार पर भारतीय समाज के नैतिक–आध्यात्मिक उत्थान के लिए कार्य करें। उनका कहना था कि भारत की आत्मा गाँवों में बसती है, अतः हम ग्रामोत्थान की दिशा में उन्मुख हों।

प्रोफेसर लालजी राम शुक्ल ने मैत्रीभावना का ज्ञान तत्कालीन प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान एवं साधक भिक्षु जगदीश काश्यप जी से प्राप्त किया था। भिक्षु जगदीश काश्यप बुद्ध की परम्परा के साधक भिक्षु थे। भगवान बुद्ध ने मैत्रीभावना की जो साधना दी वह कोई नई बात नहीं थी; मैत्रीभावना की अवधारणा वैदिक काल से ही चली आ रही थी। किन्तु बुद्ध का यह बड़ा भारी अवदान था कि उन्होंने मैत्री (प्रेम) की व्यावहारिक विधा को नियमबद्ध (codify) किया एवं मैत्रीभावना को ध्यान–योग के रूप में विकसित किया; बुद्ध के अनुयायियों ने इसे जीवित रक्खा।

अपने गुरु प्रोफेसर लालजी राम शुक्ल से मैत्रीभावना का जो बुनियादी ज्ञान हमें प्राप्त हुआ उस पर हमने व्यापक प्रयोग किए। मानसिक स्वास्थ्य परामर्श (Mental Counseling) के कार्य में तो मैत्रीभावना का सफलता पूर्वक प्रयोग

किया ही, मैत्रीभावना को आधार बनाकर गाँवों में भी काम किया (और कर रहे हैं)। विदेशों (कनाडा, अमेरिका, हालैंड, दक्षिण कोरिया) में भी मैत्रीभावना का योग साधना, विशेष रूप से मैत्री ध्यान (Maitri-Meditation) के रूप में, प्रचार–प्रसार किया। वहाँ के मैत्री–ध्यान साधकों से जो प्रतिक्रिया–निर्देशन (Feedback) मिला है (और मिल रहा है) उससे यह स्पष्ट है कि मैत्रीभावना से उनके जीवन में चामत्कारिक लाभ हुआ है। कई व्यक्तिगत, पारिवारिक एवं सहकर्मियों से सम्बन्धित समस्याओं में मैत्रीभावना को लागू कर देखा गया कि समस्याओं का सुखद समाधान हुआ। मैत्रीभावना के प्रयोग–अभ्यास में जितनी तीव्रता और जितनी शुद्धता (अर्थात् निःस्वार्थता) थी तथा प्रतिपक्षी मन में जितना विरोधभाव था – उन सबके अनुपात में मैत्रीभावना ने उतना काम अवश्य किया। यह निःसंकोच भाव से कहा जा सकता है कि मैत्रीभावना का प्रयोग कहीं असफल नहीं हुआ; प्रतिपक्षी को लाभ मिला या नहीं, किन्तु अभ्यासकर्ता को तो निश्चित रूप से लाभ मिला। व्यापक प्रयोग (experiment), सत्यापन (verification), संवाद एवं परस्पर विचार–विनिमय (dialogue and exchanging note), परिचर्चा (discussion) तथा गहन चिन्तन एवं विवेचना की प्रक्रिया से होकर मैत्रीभावना का वैज्ञानिक रूप उभर कर सामने आया है, जिसे हम इस आलेख में प्रस्तुत करने का प्रयास कर रहे हैं।

हमारी यह प्रतिज्ञा (claim) नहीं है कि हम जो प्रस्तुत कर रहे हैं वह अन्तिम सत्य है। कोई भी वैज्ञानिक सिद्धान्त अन्तिम सत्य नहीं माना जाता। स्वयं सत्य भले न बदलता हो किन्तु सत्य के विषय में जानकारी बदलती रहती है और सत्य का नया–नया रूप सामने आता रहता है। विज्ञान के इतिहास में यह देखा गया है कि तथ्यों की व्याख्या के लिए वैज्ञानिक अपनी ओर से परिकल्पना या हेतुकल्पंना (hypothesis) देता है, किन्तु कालान्तर में ऐसे नए तथ्य सामने आ जाते हैं जिन्हें व्याख्या के भीतर लाने के लिए नई हेतुकल्पना देने की आवश्यकता पड़ती है, और इस प्रकार वैज्ञानिक सिद्धान्त बदल जाते हैं। टॉलमी की परिकल्पना को कोपरनिकस ने बदल दिया, न्यूटन की भौतिकी की अनेक परिकल्पनाओं को वर्तमान "क्वांटम फीजिक्स" ने बदल दिया।

अतः सुधी पाठकों से हमारी प्रार्थना है कि उन्हें यदि कुछ ऐसे तथ्य दिखाई देते हों, जो मैत्रीभावना के सिद्धान्त से व्याख्यायित न होते हों, अथवा प्रस्तुति में कोई गलत बात दिखाई दे अथवा पाठकों के मन में कोई शंका और/या प्रश्न उठते हों तो हमें सूचित करने की कृपा करें। पाठकों की टिप्पणी से हमारा लाभ होगा, हम अगले संस्करण में वांछित परिवर्तन परिवर्धन कर पाएँगे।

अन्त में हम मैत्रीभावना के अपने प्रिय गुरु दिवंगत प्रोफेसर लालजी राम शुक्ल को समूचे हृदय से प्रणाम करते हैं। हम उनके अतिशय कृतज्ञ हैं और यह महसूस करते हैं कि हम उनके उपकार का बदला नहीं चुका सकते। वे न होते और हम पर उनकी कृपा नहीं होती, तो मैत्रीभावना की यह जीवनदायिनी विधा हमें कहाँ से मिलती? उन्हीं के द्वारा दिए गए बुनियादी ज्ञान को हम पल्लवित और परिवर्धित करके यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं।

कमलाकर मिश्र

आभार एवं धन्यवाद ज्ञापन
(Acknowledgement)

मैत्रीभावना के अपने मूल गुरु स्वर्गीय पंडित लालजी राम शुक्ल के प्रति अपनी कृतज्ञता हम प्रस्तावना में ज्ञापित कर चुके हैं। वे तो मैत्रीभावना के विज्ञ आचार्य एवं स्वयं मैत्रीभाव के मूर्तिमान रूप थे ही, उनके अलावा ऐसे बहुत से लोग हैं जो मैत्रीभावना के जीते–जागते उदाहरण हैं। हमारे अनुभव में आए उन लोगों में श्री स्वामी गुरुशरणानन्द जी (उदासीन कार्ष्णि आश्रम, रमणरेती, महावन, मथुरा) का नाम सर्वोपरि रक्खा जा सकता है। स्वामी जी पहुँचे हुए भक्त सन्त हैं; वे मैत्रीभाव (प्रेम) के मूर्त रूप हैं, उनके निरहंकार सहज व्यक्तित्व में मैत्रीभावना स्वाभाविक रूप से प्रवाहित होते रहती है। अतः वे मैत्रीभावना के उदाहरण–पुरुष के रूप में वर्तमान हैं, उनके उदार व्यक्तित्व में मैत्रीभावना के सिद्धान्त का सत्यापन (verification) होता है और उनसे मैत्रीभावना की सहज प्रेरणा मिलती है। साथ ही, वैचारिक आयाम में देखें तो स्वामी जी गम्भीर चिन्तक हैं, उनके प्रवचनों तथा उनके साथ व्यक्तिगत सत्संग से हमें मैत्रीभावना के बिन्दुओं को समझने में सरलता हुई है। हम स्वामी जी के अतिशय कृतज्ञ हैं। साथ ही, स्वामी जी ने इस पुस्तिका के प्रकाशन का सम्पूर्ण आर्थिक भार भी वहन किया है; इसके लिए हम उनके और भी कृतज्ञ हैं।

''काशी योग एवं मूल्य शिक्षा संस्था'' (Kashi Institution of Yoga and Value Education) के सचिव डॉ0 धर्मेन्द्र कुमार मिश्र के ऊपर ही इस पुस्तिका के प्रकाशन का सम्पूर्ण भार था। उनके प्रयास एवं परिश्रम से ही यह पुस्तिका प्रकाशित हो सकी है। हम धर्मेन्द्र जी के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं। हमारी पत्नी श्रीमती पार्वती देवी का भी इस कार्य में योगदान है। वे छाया की भाँति हमारे साथ रहती हैं और माता के समान हमारा पालन करती हैं। उनके पोषण में हम निश्चिंतता पूर्वक अपना लेखन–कार्य करने में समर्थ होते हैं। साथ ही हमारे पुत्र श्री कमलशील मिश्र एवं पुत्रवधू श्रीमती वीणा मिश्र का भी इसमें परोक्ष योगदान है। इन्होंने मुझे गृहकार्य के भार से पूर्णतया मुक्त कर दिया है और नित्यप्रति हमारी सेवा में तत्पर रहते हैं। इन लोगों के प्रति आभार प्रकट करना अपने प्रति ही आभार प्रकट करना है। मैत्रीभावना के प्रयोग के रूप में हमारे परिवार के सदस्य मैत्रीभावना का समवेत अभ्यास करते हैं; इसमें हमारे पौत्र बालक हर्षवर्धन का भी योगदान है, वह सचेतक का काम करता है और समवेत अभयास के कार्यक्रम को संचालित (conduct) भी करता है। हर्षवर्धन भी हमारे

धन्यवाद एवं आशीर्वाद का पात्र है। अन्त में हम अपने गाँव के पूर्व ग्राम प्रधान श्री त्रिलोकी नाथ कुशवाहा के प्रति भी अपना आभार एवं धन्यवाद ज्ञापित करते हैं; हमारे लेखन में कुशवाहा जी का परोक्ष योगदान है। ये हमारे कृषि–फार्म की पूरी तरह से देखभाल करते हैं, इन्होंने हमें कृषि एवं गोशाला के कार्यों की जिम्मेदारी से पूर्णतया मुक्त कर रक्खा है। इसी कारण हम कृषिफार्म के खुले सुन्दर एवं शान्त वातावरण में बैठे हुए निश्चिंततापूर्वक लेखन कार्य कर सकने में समर्थ होते हैं। ''काबरा ऑफसेट'' के श्री विजय काबरा भी हमारे धन्यवाद के पात्र हैं, इन्होंने कुशलतापूर्वक इस पुस्तिका का मुद्रण–कार्य किया है। अन्त में हम उन सभी ज्ञात एवं अज्ञात लोगों के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं जो इस कार्य में परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप में सहायक रहे हैं।

कमलाकर मिश्र

विषय–सूची

i.	प्रस्तावना	
ii.	आभार – प्रकाशन	
1.	भूमिका (Introduction)	1-3
2.	मैत्रीभावना क्या है?	4-10
3.	दुष्ट और दुश्मन के प्रति मैत्रीभावना की निजी आवश्यकता	11-16
4.	समवेत (Collective) मैत्रीभावना का अभ्यास	17-19
5.	"कठोर" (Rigorous) मैत्रीभावना का अभ्यास	20-29
6.	मैत्रीभावना में क्षमा का अर्थ एवं उसकी आवश्यकता	30-32
7.	मैत्रीभावना का आधारभूत दार्शनिक सत्य	33-36
8.	मैत्रीभावना और सेवा : सारे विश्व की मानसिक सेवा	37-42
9.	परिवार की सेवा और विश्व की सेवा में सामंजस्य	43-49
10.	मैत्रीभावना के अभ्यास की समय व्यवस्था (Time Management)	50-52
11.	प्रेम (मैत्री) का वांछित अर्थ	53-59
12.	मैत्री–मंत्र	60-66
13.	मैत्रीभावना के लाभ	67-96
(i)	भूमिका	
(ii)	आनन्द एवं तृप्ति की प्राप्ति	
(iii)	प्रेम मानसिक स्वास्थ्य के लिए पौष्टिक आहार का काम करता है	
(iv)	इच्छा–शक्ति (Will Power) का दृढ़ होना	
(v)	मन की रोग प्रतिरोधक क्षमता में वृद्धि	
(vi)	दूसरों के मानसिक दुष्प्रभाव से बचाव	
(vii)	स्वाभाविक प्रसन्नता की प्राप्ति	
(viii)	शारीरिक स्वास्थ्य पर सकारात्मक प्रभाव	
(ix)	चेतना का विकास	
(x)	वासनाओं का उदात्तीकरण	
(xi)	कार्यकुशलता एवं प्रतिभाशक्ति का विकास	

(xii) नेतृत्व क्षमता का विकास
(xiii) पारिवारिक एवं सामाजिक सौहार्द में वृद्धि
(xiv) भौतिक सुख–समृद्धि
(xv) भावनात्मक आत्म–निर्भरता (Emotional Independence)
(xvi) मैत्रीभावना से आत्मप्राप्ति (मोक्ष प्राप्ति)
(xvii) मैत्रीभावना से दूसरों का लाभ
(xviii) समाज में मूल्य–चेतना (Value-consciousness) का विकास
(xix) मैत्रीभावना के अभ्यास से दाम्पत्य जीवन की समस्याओं का समाधान

14. भक्तिभावना (आत्मविश्रान्ति योग) : मैत्रीभावना का सहायक अभ्यास — 97-109
15. मैत्रीभावना के अभ्यास के लिए कुछ व्यावहारिक संकेत (Tips) — 110-123
16. परिशिष्ट (Appendix) – I — 124-129
17. परिशिष्ट (Appendix) – II — 130-131

भूमिका

हमारा जीवन सुखी हो, हम शारीरिक एवं मानसिक दोनों दृष्टियों से स्वस्थ हों, हम अभावग्रस्त न रहें, हमारा मन सदा प्रसन्न एवं तृप्त रहे, मन अवसाद (depression), कुण्ठा (frustration), चिन्ता (anxiety) एवं तनाव (tension or stress) से मुक्त रहे, हमारी कार्यशक्ति में बढ़ोत्तरी एवं उत्कृष्टता (excellence) आवे, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हमें सफलता मिले – ये सारी बातें चाहते तो सभी लोग हैं, और चाहना चाहिए भी; किन्तु क्या यह सुखद स्थिति सभी को प्राप्त है? अधिकांश लोगों को नहीं प्राप्त है; जिनको प्राप्त है, उनको भी सतत प्राप्त नहीं है। किसी का जीवन सर्वदा और सर्वथा सुखी हो ऐसा तो कोई विरला ही दीखता है। एक शब्द में कहें कि हमारे जीवन में दुःख भी है। भगवान बुद्ध ने देखा – दुःख वर्तमान जीवन का एक सत्य है; चार 'आर्य' सत्यों में पहला 'आर्यसत्य' है। आगे के तीन आर्य सत्य इस बात को बताते हैं कि यद्यपि जीवन में दुःख है किन्तु दुःख हमारे स्वरूप का अंग नहीं है, वह किसी कारण से है – 'प्रतीत्यसमुत्पन्न' है – और वह कारण ऐसा है जिसे हटाया जा सकता है और फलतः सुखी हुआ जा सकता है। दुःख से मुक्ति का मार्ग है (मार्ग सत्य), उस पर हम अपने स्वतंत्र प्रयत्न द्वारा चलकर दुःख से मुक्ति पा सकते हैं। बुद्ध के चारों 'आर्यसत्य' दुःख से मुक्ति एवं सुख की प्राप्ति के सत्य हैं; बुद्ध ने आशावादी जीवन.दर्शन दिया है, जिसकी खोज बुद्ध के पहले और बाद के दृष्टाओं ने भी सफलतापूर्वक की है।

दुःख से छुटकारा पाने का, सुखी होने का, प्रयत्न तो प्रायः हम सभी करते हैं, इसके लिए हम सभी हाथ–पाँव मारते हैं, किन्तु हम बहुत सी स्थितियों में अपने को विवश पाते हैं। हमारा जीवन पूर्ण स्वतंत्र नहीं है, हमारी सीमाएँ हैं, हम अपनी आंतरिक एवं बाह्य बाध्यताओं से बँधे हैं; हमारा स्वातंत्र्य कुंठित दीखता है, फलतः हम जो चाहें वह सब कुछ नहीं कर सकते। इस कारण हमारा दुःखी होना स्वाभाविक है।

किन्तु प्रश्न है कि क्या हम पूर्णरूप से बद्ध (determined) हैं? क्या हम जीवन में कुछ भी अपनी ओर से करने में स्वतंत्र नहीं हैं? फलतः क्या

दुःख हमारी नियति (destiny) है? उत्तर होगा कि हम पूर्णतया परतंत्र नहीं हैं, हम स्वतंत्र भी हैं। यदि पूर्वमान्यताओं एवं पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर निष्पक्ष भाव से, जीवन को देखें तो यह दीखेगा कि बाध्यता (determinism) तो जीवन का आधा सत्य है, बाकी आधा सत्य यह है कि बहुत कुछ हमारे हाथ में भी है। इसे हमारा सौभाग्य कहिए या प्रकृति की कृपा कहिए कि जिस प्रकृति ने बाध्यता डाली है उसी प्रकृति ने ऐसे मार्ग भी दिए हैं जिनपर हम चाहें तो बिना किसी अवरोध के चल सकते हैं, ऐसी क्रियाएँ भी हैं जिन्हें करने के लिए हम पूर्ण स्वतंत्र हैं। हमारे लिए रास्ते खुले हैं, उन पर स्वतंत्रतापूर्वक चलकर हम जीवन को सुखी बना सकते हैं। रास्ते का ज्ञान कराने की व्यवस्था भी प्रकृति ने कर रक्खी है, किन्तु प्रकृति की यह मजबूरी है कि यदि हम रास्ता न जानना चाहें या जानने के बाद भी न स्वीकारना चाहें तो प्रकृति हमारे साथ जबर्दस्ती नहीं करती। प्रकृति हमारे स्वातंत्र्य में दखल नहीं देती, क्योंकि स्वातंत्र्य ही मनुष्य की अहमियत है, यदि प्रकृति हमारा स्वातन्त्र्य छीन ले तो हम मनुष्य ही नहीं रह जाएँगे, हम फिर मांस के लोथड़े मात्र रह जाएँगे अथवा जैविक कम्प्यूटर बन जाएँगे। प्रकृति की यह कृपा है (या भगवान में विश्वास है तो यो कहें कि भगवान की बनाई प्रकृति की कृपा है) कि प्रकृति हमारे कल्याण के हेतु इस बात के लिए नाना प्रकार के उपाय करती है कि हम रास्ता जानें और अपनी स्वतंत्रता से उसे अपनावें। रास्ता के विपरीत चलने पर प्रकृति हमें दण्ड भी देती है ताकि हम रास्ता की ओर उन्मुख हों, किन्तु रास्ता स्वीकार करने का निर्णय तो हमें ही करना होता है, रास्ते के प्रति उन्मुख तो हमें ही होना होता है। रास्ता के विपरीत चलने पर प्रकृति भले ही हमें मारती रहती है ताकि अंततोगत्वा हमें समझ आ जाए, किन्तु प्रकृति हमें परतंत्र नहीं बनाती। प्रकृति का काम है रास्ता बता देना, रास्ते पर चलने के लिए दण्डात्मक एवं शिक्षात्मक विधाओं के द्वारा प्रेरित भी करना, किन्तु रास्ता अपनाने या न अपनाने का निर्णय करना हमारा काम है, इसमें हमारा स्वातंत्र्य है, और इसीलिए परिणाम की जिम्मेदारी अन्ततोगत्वा हमारे ही ऊपर है।

तात्पर्य यह कि हमारे हाथ में भी बहुत कुछ है और हम स्वतंत्रतापूर्वक प्रयास करके वांछित लक्ष्य की प्राप्ति कर सकते हैं। सुखी जीवन के लिए

'मैत्रीभावना' का अभ्यास एक ऐसी विधा या योग है जो पूर्णतया हमारे हाथ में है, हम इसे स्वतंत्रतापूर्वक कर सकते हैं। इस योग को करने में प्रकृति भी हमारा सहयोग करती है। प्रकृति ने सुखी एवं स्वस्थ जीवन के जो रास्ते दिए हैं उनमें संभवतः मैत्रीभावना का अभ्यास सबसे महत्त्वपूर्ण एवं सबसे अधिक कारगर है। यह सबके लिए सुलभ है; इसको करने में कोई कठिनाई नहीं है, यह सरल है। इसमें न तो धन खर्च करना है (प्रकृति ने इसे निःशुल्क दिया है), न ही इसमें कठिन श्रम करना है और न तपस्या करनी है। (प्रकृति ने जो हितकारी रास्ते दिए हैं वे सब सरल और सुलभ हैं)।

●

मैत्रीभावना क्या है?

मैत्रीभावना भगवान बुद्ध का बताया लोकमंगलभावना विषयक एक मनःआध्यात्मिक (Psycho-spiritual) अभ्यास है, जिसमें मन में ही सबकी भलाई की कामना की जाती है। यह एक प्रकार का ध्यान (Meditation) है जिसे ''मैत्री–ध्यान'' (Maitri-Meditation) कह सकते हैं। जैसा सभी ध्यान–विधियों में होता है, इसे प्रमुखतः एवं प्रथमतः मन में ही किया जाता है, बाह्य जीवन या व्यवहार में मैत्रीभावना का प्रकटीकरण तो इस ध्यान का स्वाभाविक प्रतिफल है। यह वस्तुतः अपने प्रेम को दूसरों के प्रति प्रवाहित करने का मानसिक अभ्यास है जिसे मैत्रीभावना, प्रेमभावना, कल्याणभावना, शिवभावना, मंगलभावना, शुभभावना (शुभकामना) आदि नामों से कहा जा सकता है। इसे ''अभ्यास'' इसलिए कहा जा रहा है कि केवल जान लेने मात्र से इसका लाभ नहीं मिलता, वरन् इसे समय देकर रोज करना होता है; भोजन आदि नित्यक्रिया की भाँति इसे जीवन का अंग बना लिया जाता है। (प्रारंभ में मैत्रीभावना का प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करना होता है, किन्तु बाद में मैत्रीभावना सहज रूप में अपने आप होने लगती है। वास्तविक सन्त–महात्माओं में मैत्रीभाव अर्थात् प्रेम स्वाभाविक रूप से प्रवाहित होते रहता है।)

जीवन को स्वस्थ एवं सुखी बनाने की दिशा में खोज करने वाले सभी ज्ञानी महात्माओं, मनीषियों एवं धर्म–प्रवर्तकों ने मैत्रीभावना (प्रेम) को सर्वोपरि महत्त्व दिया है। वैदिक ऋषियों से लकर आधुनिक सन्त–महात्माओं तक सबने इसका निर्देश किया है। वैदिक प्रार्थना में कहा गया है ''मैं सभी लोगों को मित्र की आँखों से देखूँ'' (''मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वभूतानि समीक्षे'')। वैदिक ऋचाओं में सभी प्राणियों के कल्याण की कामना और प्रार्थना की गई है। पौराणिक काल में भी इसकी प्रधानता रही है। मैत्रीभावना का प्रसिद्ध श्लोक है –

''सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु , मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्।।''

अर्थात् ''सभी सुखी हों, सभी निरोग हों, सभी लोग अच्छाई को देखें,

कोई दुःखी न हो।" मैत्रीभावना का मंत्र है –
"लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु" अर्थात् "सभी लोग सुखी हों"।

केवल प्राच्य धर्मों में ही नहीं, अन्य धर्मों में भी मैत्रीभावना पर बल दिया गया है। बाइबिल का आदेश (Commandment) है "तू अपने पड़ोसी को अपने जैसा प्यार करेगा" ("... and thou shalt love thy neighbour as thyself")। इसके पहले भगवान (जो सत्यस्वरूप और प्रेमस्वरूप है) को सर्वभाव से प्यार करने को कहा गया है, और इन दोनों आदेशों (commandments) के तुरन्त बाद कहा गया है – ".... और इनसे बढ़कर और कोई आदेश नहीं है" ("...and there is none other commandment greater than these".)। भगवान को प्यार करना और भगवान के बन्दों को प्यार करना एक ही बात है। इस्लाम में भी हमसाया को (अर्थात् साथ रहने वाले को यानी पड़ोसी को) प्यार करने का निर्देश दिया गया है। सभी सन्तों ने भी प्रेम की वकालत की है। कबीर ने कहा है – "ढाई आखर प्रेम का पढ़े सो पंडित होय"। आधुनिक युग के विचारकों एवं लोकल्याण में लगे महापुरुषों ने भी यही कहा है। स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, श्री अरविन्द, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, महात्मा गाँधी आदि सभी प्रेम को जीवन का आधार मानते हैं। सत्य साईं बाबा ने इसे इन शब्दों में कहा है –"अपना दिन प्रेम में प्रारम्भ करो, प्रेम में दिन व्यतीत करो एवं प्रेम में ही दिन समाप्त करो; परमात्मा को पाने का यह निश्चित उपाय है।"

भगवान बुद्ध के पहले से ही भारतवर्ष में मैत्रीभाव की अवधारणा वर्तमान थी, किन्तु इस विषय में बुद्ध का विशिष्ट अवदान यह है कि उन्होंने मैत्रीभावना की विधा को संहिताबद्ध (codify) किया और उसे योगसाधना के रूप में प्रचलित एवं प्रतिष्ठित किया। बौद्ध साहित्य के 'मैत्रीसूत्र, ('मेत्तासुत्त') में इसका निदर्शन है। पालिभाषा (जो बुद्ध के उपदेश की भाषा मानी जाती है) में मैत्री शब्द को 'मेत्ता' और सूत्र को 'सुत्त' कहते हैं। बुद्ध स्वयं योगी थे और ध्यानयोग में माहिर थे। उन्होंने मैत्रीभाव को एक ओर एक विशेष प्रकार के ध्यानयोग के रूप में प्रतिष्ठित किया और दूसरी ओर इस योग की साधना के परिणामस्वरूप बाह्य व्यवहार में जो परिवर्तन आते हैं या आने चाहिए उन्हें भी व्याख्यायित किया।

यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि जब हम मैत्रीभावना की

बात करते हैं तो सुनने वाले के मन में यह प्रतिक्रिया हो सकती है कि वही पुराने "उपदेश" दिए जा रहे हैं, वही पुराने "आदर्श" बताए जा रहे हैं, जो जीवन में कभी यथार्थ नहीं बनते, जो कोरे आदर्श बनकर ताक पर धरे रह जाते हैं और दुनिया उनको बिना स्वीकार किये अपनी गति से चलती रहती है। प्रस्तुत आलेख का विषय कोई 'उपदेश' देना अथवा 'आदर्श' कहना नहीं है, वरन् जीवन के एक सत्य को प्रस्तुत करना है। उपदेश देना एक बात है और वैज्ञानिक की तरह किसी सत्य को प्रस्तुत करना दूसरी बात है। पुराने एवं आधुनिक वैज्ञानिकों की खोजों से जो तथ्य सामने आए हैं वही इस आलेख में दिए गए हैं। वैज्ञानिक (मनोवैज्ञानिक) खोजों से जो यह बात स्पष्ट हुई है (इसमें आधुनिक मनोवैज्ञानिकों की भी खोजें शामिल हैं) कि मैत्रीभावना के अभाव में मानसिक सुख एवं स्वास्थ्य का बहुत नुकसान होता है और उसके भाव में चामत्कारिक लाभ होते हैं। इसे अगले पृष्ठों में विधिवत् दिया गया है जो इस आलेख का प्रमुख विषय है। जैसे विज्ञान कोई उपदेश नहीं देता, वरन् वह प्रकृति के सत्य को खोजता है, प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन करता है; उसी प्रकार हमारे प्राचीन योगी ऋषि–मुनि आत्मजगत् के खोजी वैज्ञानिक थे और उन्होंने जीवन को स्वस्थ एवं सुखी बनाने की दिशा में सफलतापूर्वक खोजें की हैं। उनकी कई खोजें आधुनिक वैज्ञानिकों द्वारा भी पुष्ट होती जा रही हैं। उन्होंने जीवन के जिन सत्यों की जानकारी प्राप्त की थी उनमें से संभवतः सबसे महत्त्वपूर्ण मैत्रीभावना का सत्य है। तात्पर्य यह कि हम मैत्रीभावना की चर्चा इस दृष्टि से नहीं कर रहे हैं कि यह "आदर्श" है, "अच्छी बात" है, इसलिए करना चाहिए; वरन् हम इसकी चर्चा इस दृष्टि से कर रहे हैं कि इसके करने से हमारे मानसिक स्वास्थ्य एवं सुख में चामत्कारिक वृद्धि होती है। यहाँ दृष्टि उपदेश अथवा आदर्श की नहीं है, वरन् जीवन के यथार्थ सत्य की है, सुख के खोज की दृष्टि है।

मैत्रीभावना में सबके प्रति कल्याण की कामना की जाती है, सब लोग भले एवं सुखी हों यह भावना की जाती है। जिसके प्रति मैत्रीभावना की जाती है उस व्यक्ति या समूह को कल्पना में ले आकर (अर्थात् मन में ध्यान कर) मानसिक स्तर पर यह भावना भेजी जाती है कि वह सुखी रहे। इस भावना को अपने निकटतम वृत्त से प्रारम्भ किया जाता है और क्रमशः

उसकी परिधि बढ़ाई जाती है। अर्थात् इसे पहले अपने परिवार से शुरू किया जाता है, परिवार के सभी सदस्यों को मन में ले आकर यह भावना की जाती है कि वे स्वस्थ एवं सुखी हों, वे भले बनें एवं सन्मार्ग पर चलें। फिर मैत्रीभावना में आने वाले व्यक्तियों की परिधि को बढ़ाकर उसमें पड़ोसियों को शामिल किया जाता है और उनके प्रति भी यही भावना की जाती है। भगवान बुद्ध ने पड़ोसी के प्रति मैत्रीभावना का विस्तृत रूप सोदाहरण बताया है, जैसे यह भावना की जाय कि पड़ोसी स्वस्थ एवं सुखी रहे, उसके खेत में खूब अन्न हो, उसकी गायें खूब दूध दें, उस पर कोई कष्ट या विपत्ति न पड़े, वह भला बने एवं सन्मार्ग पर चले, आदि। फिर परिधि को बढ़ा कर पूरे मोहल्ला या गाँव वालों के प्रति, फिर पूरे जनपद, फिर पूरे देश, फिर पूरे विश्व एवं फिर पूरे प्राणिमात्र (जलचर, थलचर, नभचर) के प्रति उक्त भावना भेजी जाती है। शरीर छोड़ी हुई आत्माओं के प्रति भी यह भावना करने को बताया गया है। (हिन्दू, जैन, बौद्ध, सिक्ख आदि सभी भारतीय परम्पराओं में यह मान्यता है कि मरने का अर्थ आत्मा का शरीर से विरहित हो जाना है, और मरने के बाद आत्मा का पुनर्जन्म होता है। पुनर्जन्म लेने के पहले आत्मा कुछ काल तक अशरीरीरूप में अथवा सूक्ष्म शरीर में रहती है, जिसे संक्रमण काल कहा जा सकता है। ईसाई एवं इस्लामी परम्परा में पुनर्जन्म भले न माना जाता हो किन्तु आत्मा की अमरता तो मानी ही जाती है।) मैत्री भावना में अशरीरी प्राणियों को भी कल्पना में ही ध्यान कर यह भावना की जाती है कि वे सुखी हों, उनकी जीवन–यात्रा सुखी हो, उनका कल्याण हो, आदि।

मैत्रीभावना को छोटे से वृत्त से लेकर बड़े वृत्त तक एक बार में पूरा कर लेने पर यह नहीं समझना चाहिए कि मैत्रीभावना का अभ्यास पूरा हो गया। एक बार पूरा राउण्ड (चक्र) हो जाने के बाद पुनः पुनः उन वृत्तों पर मन घुमाते रहना होता है और उन सभी लोगों के प्रति पुनः पुनः मैत्रीभावना करनी होती है। किसी एक स्थान पर अधिक मैत्री–भावना देने की इच्छा होती हो तो वहाँ अधिक दे सकते हैं।

अभ्यास करते समय मन इधर–उधर भटके तो उसे पुनः अभ्यास पर ला लेना चाहिए। मन स्वभावतः चंचल होता है, इसीलिए उसे बन्दर मन (monkey mind) कहते हैं जो बन्दर की भाँति इस डाल से उस डाल पर

कूदा करता है। जब मैत्रीभावना के अभ्यास में एक वृत्त से दूसरे वृत्त पर मन ले जाया जाता है तो मन को एक डाल से दूसरे डाल पर कूदने में स्वाभाविक सहूलियत हो जाती है, वह फिर ज्यादा इधर–उधर नहीं भागता। साथ ही, जब मैत्री भावना में रस मिलने लगता है तो मन स्वयं स्थिर हो जाता है।

मैत्रीभावना का अभ्यास करने की सरल विधि यह है कि थोड़ी देर के लिए शांत भाव से बैठकर मन और शरीर को शांत (relax) कर आँख मूँद कर ध्यान करने के तौर पर उपर्युक्त क्रम से व्यक्तियों को मन में ले आकर उनके प्रति कल्याणभावना बार–बार करें जैसे कि मानसिक जप करते हैं। चलते हुए, रेल या बस में यात्रा करते हुए सहयात्रियों के प्रति भी ऐसा किया जा सकता है और करना चाहिए। अथवा जैसे सुविधा हो वैसे किया जा सकता है। जब भी मन खाली बैठा हो उस समय अन्य बातें सोचने के बजाय मैत्रीभावना का अभ्यास किया जा सकता है।

यहां यह ध्यान देने योग्य है कि जिनके प्रति मैत्रीभावना की जा रही है उनमें से यदि कोई ऐसा दीखे कि वह दुष्ट, बदमाश या कुमार्गी है तो उसके प्रति मैत्रीभावना का यह रूप होगा कि भावना करें कि वह भला बने, अपनी बुराई छोड़े एवं सन्मार्ग पर चले ताकि सुखी हो सके। यह भी ध्यान देने योग्य है कि जिसके प्रति हमारे मन में क्रोध, घृणा या वैमनस्य हो उसके प्रति तो विशेष रूप से मैत्रीभावना का अभ्यास करना आवश्यक है। उसके प्रति भी यही भावना करनी होती है कि वह बुराई छोड़कर भला बने एवं कल्याण–मार्ग को पहचाने।

जिसके प्रति प्रतियोगिता का भाव है उसके प्रति भी मैत्रीभावना करना आवश्यक है। ऐसा करने पर प्रकृति के कर्म–नियम के अनुसार हमें अपने प्रतियोगी से कोई खतरा नहीं होता; प्रकृति ऐसे साधन जुटा देती है जिससे हमारा एवं हमारे प्रतियोगी दोनों का समुचित कल्याण हो। एक दूसरे को नीचा दिखाने की गलत प्रतिस्पर्धा से दोनों पक्षों का नुकसान होता है; इस चेष्टा में प्रतिस्पर्धी ऐसा काम कर बैठते हैं जिससे उनका अपना भी नुकसान होता है। किन्तु स्वस्थ प्रतिस्पर्धा भी होती है जो सहायक बनती है। "वह बढ़ रहा है, उससे प्रेरणा लेकर हम भी बढ़ें" यह स्वस्थ प्रतिस्पर्धा का भाव है और इस भाव के साथ काम करने पर हमारी बढ़ोत्तरी होती है।

अच्छे कामों के लिए भी होड़ लगाई जा सकती है, जैसे सहायता करने में, दान देने में, अपनी प्रस्तुति (किसी भी क्षेत्र में) बढ़िया करने में, आदि। इसे स्वस्थ प्रतिस्पर्धा (Healthy Competition) कहा जा सकता है। स्वस्थ प्रतिस्पर्धा एवं परस्पर सहयोग की भावना से दोनों पक्षों को लाभ होता है, दोनों की वृद्धि होती है।

जिसके प्रति द्वेष हो उसके प्रति तो विशेष मैत्रीभावना करनी ही है; साथ ही जिसके प्रति राग या असक्ति हो उसके प्रति भी विशेष मैत्रीभावना करनी होती है, क्योंकि तभी राग से भी छुटकारा मिल पाता है। उदाहरण के लिए, किसी सुन्दरी स्त्री या सुन्दर पुरुष में मन आसक्त हो (जो बहुत स्वाभाविक है तथा इस अर्थ में उपयोगी भी है कि वही आसक्ति मैत्रीभावना के अभ्यास से प्रेम के रूप में उदात्त होकर शक्ति और आनन्द का स्रोत बन जाती है) तो उस स्त्री या पुरुष के प्रति विशेष रूप से मैत्री भावना का अभ्यास करना चाहिए। इससे राग और द्वेष दोनों ही प्रेम के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं तथा मन राग–द्वेष से मुक्त हो जाता है।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि मैत्रीभावना का दण्डव्यवस्था से कोई विरोध नहीं है। जैसे माँ–बाप अपने बिगड़े बच्चे को सुधारने के लिए उसे प्रताड़ित करते हैं तो यहाँ दण्ड देना माँ–बाप की मैत्रीभावना के विपरीत न होकर उनके प्रेम का ही परिचायक होता है, अथवा जैसे न्यायाधीश कर्तव्यभाव से अपराधी को दण्ड देता है, उसी प्रकार न्यायोचित दण्डव्यवस्था के साथ मैत्री–भावना का विरोध नहीं है। भगवान भी अपने बच्चों को निःस्वार्थ प्यार करता है, किन्तु साथ ही कर्मनियम के अनुसार उन्हें दुःख होने देता है ताकि उनका अहंकार टूट कर सुधार हो सके, कर्मनियम के अनुसार दण्डव्यवस्था भगवान के प्रेम का ही प्रकटीकरण है। अतः मैत्रीभावना करने वाला व्यक्ति संसार के दुःखों को देखकर स्वयं घबराता नहीं, बल्कि हो सकता है कि वह न्यायाधीश हो या अधिकारी हो तो उसे दूसरों को दण्डित करने की आवश्यकता पड़ जाय। किन्तु क्रोध, घृणा, शत्रुता, बदले की भावना या अहंकार से दण्ड नहीं देना चाहिए, बल्कि माँ–बाप की तरह मैत्रीभावना से ही या शुद्ध कर्तव्य भाव से ही दण्ड देना चाहिए। जो माँ–बाप दुलार में अपने बच्चे को दण्डित नहीं करते वे वस्तुतः बच्चे को प्यार नहीं करते, क्योंकि प्यार का अर्थ है बच्चे का कल्याण चाहना, और बच्चे का कल्याण इसमें है कि वह सुधर जाए; अतः

आवश्यकता पड़ने पर सुधरने के लिए दण्ड देना प्यार का अंग है। इसी प्रकार यदि शासकवर्ग जनता को प्यार करता है तो वह अपराधकर्मियों के प्रति कठोर दण्डव्यवस्था लागू करता है। उसी शासन में दण्ड व्यवस्था ढीली होती है जो निष्प्रेम होता है। एक पुरानी कहावत है कि राजा सोता है किन्तु उसका दण्ड जागता है। हाँ, निरंकुश एवं दुराचारी शासक की दण्डव्यवस्था स्वार्थपरक होती है, अतः अनुचित होती है।

मैत्रीभावना के अभ्यास में थोड़ी अटक उस समय आती है जब यह दीखता है कि व्यक्ति दुष्ट है और मन में यह होता है कि हम दुष्ट के प्रति कल्याण–भावना क्यों करें? यह अटक तब दूर हो जाती है जब वहां हम इस भावना का अभ्यास करते हैं कि वह व्यक्ति अपनी दुष्टता छोड़े, अपनी गलती को महसूस करे और सन्मार्ग पर चले। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि हम किसी को घृणा तभी करते हैं जब उसमें बुराई देखते हैं, अर्थात् हमारी घृणा का कारण स्वयं वह व्यक्ति नहीं होता बल्कि उसकी बुराई होती है, और बुराई रहते हुए उसके सुख की कामना करना हमारे मन को स्वीकार नहीं होता। किन्तु जब हम यह कामना करते हैं कि उसकी बुराई दूर हो जाय (भले ही दण्ड पाकर दूर हो) तो उस व्यक्ति के प्रति घृणा समाप्त हो जाती है। 'पाप से घृणा करो, पापी से नहीं' इस सिद्धान्त का यही अर्थ है। अतः पापी के प्रति मैत्रीभावना इसी रूप में की जाएगी कि वह पापकर्म छोड़ दे। तात्पर्य यह है कि जैसे माँ–बाप अपने बिगड़े बच्चे के प्रति घृणा अथवा क्रोध न करते हुए उसके भला बनने के लिए कामना करते है; वैसे ही तथाकथित दुष्ट व्यक्ति के प्रति किया जाय। दूसरों के भला बनने की जो कामना हम करते हैं उससे अज्ञात रूप से हम स्वयं भला बनते हैं।

मैत्री भावना जिस सत्य पर आधारित है वह सत्य यह है कि वस्तुतः कोई पराया नहीं है, सभी अपने ही हैं, किन्तु अज्ञानवश हम इस सत्य को भूलकर दूसरों को पराया समझ बैठे हैं और उन्हें प्यार न कर अपना भारी मानसिक नुकसान कर रहे हैं। अतः मैत्रीभावना के अभ्यास में पुनः इस 'सत्य को याद किया जाता है और यह भावना की जाती है कि ये सभी अपने ही है।

●

दुष्ट और दुश्मन के प्रति मैत्रीभाव की निजी आवश्यकता

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि जो दुष्ट है क्यों न उसके प्रति उदासीनता या उपेक्षा भाव रखकर उसे छोड़ दें और अन्यों के प्रति मैत्रीभावना जारी रक्खें; आखिर और लोगों के प्रति तो मैत्रीभावना कर ही रहे हैं, दुष्टों और दुश्मनों के प्रति न भी करें तो क्या बिगड़ जाएगा? उत्तर है कि उनके प्रति न करें तो हमारा भारी नुकसान है। बात यह है कि जिन लोगों ने हमारा नुकसान किया है अथवा हमारा नहीं भी नुकसान किया है किन्तु अपने आप में दुष्ट हैं, उनका सामना पड़ने पर या उनकी याद आने पर (मन में उनकी स्मृति रहती ही है) हम उनसे कुढ़ते रहते हैं, हमारे मन में तनाव बना रहता है और उनके प्रति मानसिक गाँठ (Complex) बन जाती है जिससे हम दुःखी रहते हैं। साथ ही उनके प्रति मन में क्रोध, घृणा या बुरा भाव आता है जिससे हमारे मन में तनाव और अशान्ति बनी रहती है। किसी ने हमारे प्रति कोई अपराध नहीं भी किया किन्तु यदि उसके प्रति यह भाव आता है कि यह तो बड़ा दुष्ट और नीच आदमी है तो हमारा यह भाव हमारे मन को दूषित और तनावग्रस्त बनाता है। उसके प्रति हिकारत का भाव उसका कुछ बिगाड़े या न बिगाड़े, हमारा तो नुकसान कर ही देता है; हम अपने इस भाव के प्रभाव से अपने अनजाने ही स्वयं उन्हीं बुराइयों से ग्रस्त हो जाते हैं और सोच सोचकर अशान्त बने रहते हैं। बुरे व्यक्ति के साथ रहने से जितना हमारा नुकसान नहीं होता उतना उसकी बुराइयों को सोच–सोच कर होता है; दुष्ट व्यक्ति का सामीप्य नहीं वरन् उसके प्रति हमारा भाव हमें नुकसान

पहुँचाता है। हम समझते नहीं कि दूसरों के प्रति हमारी गलत सोच से हमारा कितना नुकसान हो रहा है, और नुकसान होते जाता है।

अतः दूसरे की दुष्टता छूटे या न छूटे, कम से कम हमारी तो यह आवश्यकता है ही कि हमारा मन उसके कारण तनावग्रस्त न हो, हमारा मन अशान्त न हो। यह क्या है कि तथा–कथित दुष्ट व्यक्ति तो मौज में है और हम उसकी करनी या बात सोच–सोच कर मर रहे हैं? यह कहाँ की बुद्धिमत्ता है कि हम दूसरों के गलत व्यवहार के कारण अपनी सोच को गलत बनाकर अपने को नष्ट कर दें?

अतः अपनी ही मानसिक सुख–शान्ति के लिए यह आवश्यक है कि दूसरों के कारण हमारे मन में जो तनाव एवं अशान्ति है उससे हम मुक्त हों। इसके लिए आवश्यक है कि हम मैत्रीभावना का यह अभ्यास करें कि दुष्ट व्यक्ति सुधर जाय, भला हो जाय (भले ही दण्ड पाकर सुधरे)। इसी में यह भी भावना करें कि वह व्यक्ति भी है तो हमारा ही (पराया नहीं है), वह दुष्ट हो गया है, मार्गभ्रष्ट हो गया है, वह सही मार्ग पकड़ ले, अपनी गलती महसूस करे और भला हो जावे, भले ही उसके भला बनने में उसे कष्ट मिलना आवश्यक हो। प्रकृति का यह नियम है कि बिना भला हुए कोई सुखी नहीं हो सकता है, जो दुष्ट है उसे कष्ट पाना ही है, हम न भी चाहें कि वह दुःखी हो तब भी प्रकृति तो उसे दण्ड देगी ही। अतः उसके लिए यही भावना करनी है कि वह भला हो जाय ताकि सुखी होवे (Be good, be happy)। यदि अपना ही बच्चा बिगड़ जाय और हमारे साथ ही गलत व्यवहार करने लगे

(जैसे बहुत सी सन्तानें अपने माँ–बाप से करती देखी जाती हैं,) तो हम बच्चे को घृणा नहीं करने लगते हैं और पराया नहीं समझने लगते हैं। उसे हम नाना प्रकार के उपायों द्वारा रास्ते पर लाने का प्रयत्न करते हैं, कम से कम मन में तो यह मैत्रीभावना करते ही हैं कि हमारा बच्चा सही हो जाय ताकि सुखी हो सके। इसी प्रकार उस तथाकथित दुष्ट या दुश्मन व्यक्ति के प्रति यह भाव करना है कि यह भी हमारा ही है (पराया नहीं है), यह सुधर जाय और सन्मार्ग पर चले ताकि यह भी सुखी हो सके। वह व्यक्ति सुधरता है या नहीं यह तो अलग बात है, कम से कम हमारे मन का तनाव दूर हो जाता है। दूसरे में नहीं, वरन् अपने में परिवर्तन लाने के लिए मैत्रीभावना का अभ्यास किया जाता है। दूसरे भी बदल जाते हैं, यह अलग बात है (इसकी चर्चा हम आगे करेंगे), किन्तु दूसरे बदलें या न बदलें, हमारा तो लाभ होगा ही। दूसरे बदल जाएँ तभी हमारा तनाव दूर होगा, ऐसा नहीं है। हम बदल जाएँ तो हमारा काम हो जाएगा (हमारा तनाव दूर हो जाएगा), दूसरे चाहे वैसे ही रहें। मैत्रीभावना प्रमुखतः अपने को ही बदलने का अभ्यास है।

इस संदर्भ में लेखक के अनुभव में कई उदाहरण आए हैं जिनसे उक्त बात की पुष्टि होती है। लेखक ने वाराणसी के बगल में सारनाथ के पास एक गाँव में प्रयोग के तौर पर मैत्रीभावना के अभ्यास का कार्यक्रम चलाया था। लेखक अभ्यासियों की व्यक्तिगत समस्याओं पर मानसिक परामर्श (Mental counseling) भी देता था। एक व्यक्ति ने एक दिन अपनी एक समस्या रक्खी। उस व्यक्ति का पड़ोसी दुष्ट स्वभाव का था और इसे बहुत पीड़ित करता था। यह व्यक्ति उससे त्रस्त रहता था, किन्तु उससे कमजोर होने के

कारण उसका कुछ कर नहीं पाता था। इसने अपनी समस्या इन शब्दों में बताई – "मैं सबेरे उठता हूँ तो पड़ोसी पर भी नजर पड़ जाती है, उसे देखते ही मेरा पाव भर खून जल जाता है। वैसे भी उसकी करतूतों की याद आने पर मेरा खून खौल उठता है।" जैसी ऊपर चर्चा की गई है उसी रूप में मैत्रीभावना उस पड़ोसी के प्रति करने की सलाह इस व्यक्ति को लेखक ने दी। लगातार एक महीने के मैत्रीभावना के अभ्यास के बाद इस व्यक्ति ने लेखक को रिपोर्ट दी – "उसके प्रति अभी प्रेम तो नहीं हो रहा है, किन्तु जो खून जलता था वह जलना बन्द हो गया है।" कहना न होगा कि इस तरह के "खून जलने" का अनुभव तमाम लोगों को होता है – परिवार के ही किसी सदस्य से, पड़ोसी से, आफिस या कर्मक्षेत्र के सहकर्मी या मालिक अफसर (बॉस–Boss) से, किसी से झगड़ा हो जाने या उससे अपमानजनक व्यवहार पाने से, किसी को हम प्रेम करते हैं उसके द्वारा धोखा देने या ठुकराए जाने पर, किसी का हमने उपकार किया उसके द्वारा कृतघ्नता का व्यवहार करने पर, अपने विरोधियों द्वारा उत्पीड़ित किए जाने पर, आदि – मन में व्यथा होने, 'खून जलने' का अनुभव होता है। इससे निजात पाना तो अपने मानसिक स्वास्थ्य एवं सुख के लिए आवश्यक है, जो उक्त रूप से मैत्रीभावना करने से ही संभव है।

यहाँ पर स्पष्ट कर देना प्रासंगिक होगा कि कोई दुष्ट–बदमाश है इस बात को तथ्य रूप से जानने मात्र से तनाव नहीं होता, वरन् उसकी बुराई के संज्ञान के साथ हिकारत या घृणा का भाव सम्मिलित कर लेने पर ही तनाव होता है। न्यायाधीश अपराधी को दण्ड देता है तो उसे अपराधी की दुष्टता का संज्ञान तो रहता ही है, किन्तु जज के मन में इस संज्ञान से कोई तनाव नहीं होता क्योंकि घृणा का भाव नहीं रहता है। अपना

पुत्र/पुत्री दुष्ट हो तो उसकी दुष्टता हटाने की चिन्ता से मन में तनाव भले ही होवे, उसकी दुष्टता के संज्ञान मात्र से तनाव नहीं होता। किन्तु दुष्टता का संज्ञान होने पर इस संज्ञान के साथ घृणा या हिकारत का भाव मिल जाता है तो मन दूषित हो जाता है और तनावग्रस्त भी हो जाता है। इसी अर्थ में कहा गया है कि दूसरों की बुराइयों को न देखें। बुराई न देखने का अर्थ यह कदापि नहीं है कि बुराई से आँख मूँद लें (गाँधी जी का बन्दर) या बुराई को हटाने का उपाय न करें या बुराई (अपराध) के लिए दण्ड न दिया जाय। बुराई हटाने के लिए यह सब उपाय करने चाहिए; बुराई न देखने का अर्थ केवल इतना ही समझना चाहिए कि बुराई को घृणा या हिकारत की निगाह से नहीं देखना है। गाँधी जी के तीन बन्दरों का अर्थ यही समझना चाहिए। बुरे व्यक्ति के प्रति यह मैत्रीभावना तो करनी ही है कि उसकी बुराई छूटे और वह भला बने।

इस दृष्टि से देखें तो बुराई की उपेक्षा करना भी पूर्ण सत्य नहीं है। जब तक हमारा मन कच्चा है और बाह्य प्रभावों में जल्दी आ जाता है तब तक अपनी सुरक्षा के लिए हम बुराई की उपेक्षा करें यह अलग बात है; किन्तु मन को पूर्णतया स्वस्थ एवं रोगप्रतिरोधी (immune) बनाने के लिए यह आवश्यक है कि जहाँ बुराई देखें उसे भलाई में बदलने की मैत्रीभावना करें।

कई बार ऐसा भी होता है कि जो बुराई हम दुश्मन या दुष्ट व्यक्ति में देखते हैं वह वस्तुतः उसमें नहीं होती, हम भ्रमवश वैसा समझ बैठते हैं। हम जो दूसरों का मूल्यांकन करते हैं और उन्हें बुरा समझ लेते हैं वह आवश्यक नहीं कि पूर्ण वस्तुनिष्ठ (objective) ही हो, हमारा मूल्यांकन व्यक्तिनिष्ठ (Subjective) भी हो सकता हैं। जो बुराई हमें दूसरे में दीखती है वह हमारी कल्पनामात्र हो सकती है जिसे हमारा मन हमारे अनजाने भी मान बैठता है। कभी–कभी तो ऐसाभी होता है कि जो बुराई हम दूसरे में देखते हैं वह उसमें न होकर हमारे ही अन्तर्मन में होती है जिसे हम अपने अनजाने ही परोक्ष रूप से उस व्यक्ति में आरोपित करके देखते हैं। इसे मनोविज्ञान में आत्म–प्रक्षेपण का तथ्य (Phenomenon of self-projection) कहा जाता है। मनोविज्ञान की "गंभीर मनोविज्ञान" (Depth Psychology) ,एवं "मनोविश्लेषण" (Psycho-analysis) शाखा ने यह स्पष्ट

किया है कि कभी–कभी कोई बुराई हमारे अचेतन या अवचेतन मन (Unconscious or Subconscious mind) में रहती है जिसे हमारा चेतन मन अहंकार वश स्वीकार नहीं करता, और हमारा अन्तर्मन हमारे अनजाने ही उस बुराई को दूसरे में प्रक्षेपित कर देता है और हमारा चेतन मन भ्रमवश उस बुराई को अपने भीतर न देखकर उस दूसरे व्यक्ति में देखने लगता है। तात्पर्य यह कि ऐसा भी होता है कि हम अपनी ही बुराई को अपने भीतर न देखकर दूसरे में देखने लगते हैं। आत्मसाधना का प्रारम्भ यहीं से होता है कि हम अपनी बुराई को अपने ही भीतर देखें। इसी बात को कबीर ने कहा है :

"बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न मिलिया कोय।
जो दिल खोजा आपना, मुझसा बुरा न कोय।।"

हमारे भीतर मन की उपर्युक्त स्थिति हो तब तो यह बहुत ही आवश्यक है हम अपनी बुराई से मुक्त हों, अन्यथा हमारा मन सुखी और स्वस्थ नहीं हो सकता है। अपनी बुराई से मुक्त होने का सहज उपाय तथाकथित बुरे व्यक्ति के प्रति बताए गए ढंग से मैत्रीभावना करना है अर्थात् यह भावना करनी है कि उसकी बुराई दूर हो। दूसरों की बुराई दूर होने की कामना या भावना करने से परोक्ष रूप में हम अपनी ही बुराई दूर होने की भावना करते हैं। इस विधा से दूसरे की बुराई दूर हो या न हो, हमारी बुराई तो दूर हो ही जाती है। (वैसे, दूसरे में भी वास्तविक बुराई हो तो हमारी मैत्रीभावना से उसकी बुराई भी दूर होने का प्रभाव पड़ता है।) प्रक्षेपण (projection) एवं प्रतिक्रिया (reaction) मनोविज्ञान का एक सत्य है जिसके अनुसार हम दूसरों के प्रति जैसा सोचते हैं वैसा हम स्वयं हो जाते हैं, हम दूसरों को बुरा देखते हैं तो स्वयं बुरा हो जाते हैं, भला देखते हैं तो स्वयं भला हो जाते हैं। संभवतः इसी सत्य को ध्यान में रखकर संतों ने कहा है – बुरा मत देखो, बुरा मत सोचो। (गाँधी जी के बन्दरों के ग्राह्य अर्थ की ओर हम संकेत कर चुके हैं।)

अतः अपने स्वयं भला बनने के लिए दूसरों के (सब के) भला बनने की कामना (मैत्रीभावना) करना आवश्यक है। सबमें न्यूनाधिक बुराई हो सकती है या होती है। हमारे साथ भी वही बात सही है। इसलिए सुखी होने की कामना (भावना) करने के साथ–साथ भला हो जाने की भावना करना आवश्यक है। इसीलिए मैत्रीभावना में कहते हैं – "भला होवो, सुखी

होवो'' (Be good, be happy)।

कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो अपने चारों ओर बुराई ही देखते हैं, सब लोगों से खीजे रहते हैं और सबकी शिकायत ही किया करते हैं। उन्हें दूसरों की अच्छाइयाँ नजर नहीं आतीं, केवल दोष दर्शन ही होता है। किन्तु ऐसे लोग बड़े अभागे होते हैं क्योंकि ये लोग अपने आप में हमेशा असंतुष्ट रहते हैं, इनका मन तनावग्रस्त रहता है और कभी इन्हें स्वाभाविक प्रसन्नता या उत्फुल्लता का अनुभव नहीं होता। जो दूसरों से असंतुष्ट रहता है वह अपने आप में भी असंतुष्ट रहता है। जो व्यक्ति नफरत पर जीता है उसका मन कभी सुखी और प्रसन्न नहीं हो सकता।

ऐसे व्यक्ति के लिए परम आवश्यक है कि वह जिस समाज में रह रहा है उसके साथ सामंजस्य स्थापित करे। आखिर जब यही समाज उपलब्ध है और इसी समाज में हमें जीना है तो समाज को नफरत करके हम कैसे जी सकते हैं? किसी शायर ने कहा है :

''मुझे नफरत हुई सारे जहाँ से।
नई दुनिया मगर लाएँ कहाँ से।।

हमें नई दुनिया तो मिल नहीं जायेगी; और यदि हम नफरत करने का ही स्वभाव बनाएँ हैं तो नई दुनिया हमें मिल भी जाय तो उसके साथ भी वैसा ही करेंगे। अतः आवश्यकता दुनिया के बदलने की नहीं वरन् स्वयं अपने बदलने की है। मैत्रीभावना का अभ्यास ही यह बदलाव लाता है और समाज के साथ सामंजस्य स्थापित करवाता है।

जो व्यक्ति मैत्रीभावना का अभ्यासी नहीं है वह दुष्टों और विरोधियों के बीच रहने पर भयग्रस्त और उद्विग्न रहता है, और उसका मन अपने को त्रस्त अनुभव करता है। किन्तु मैत्रीभावना वालों को विपक्षियों और दुष्टों के बीच रहकर भी कोई मानसिक परेशानी नहीं होती, उनका मन त्रस्त नहीं होता, उन्हें खीझ नहीं होती। इसका कारण यही है कि वे विरोधियों और दुष्टों को भी अपना ही समझते हैं और उनके सुधार हेतु उनकी कल्याण–कामना (मैत्रीभावना) करते हैं। भय का मनोविज्ञान यह है कि दूसरों से भय होता है (''द्वितीयाद् वै भयं भवति''–उपनिषद), अपनों से भय नहीं होता। अभय होना मानसिक सुख–शान्ति की प्रथम शर्त है, और यह

शर्त मैत्रीभावना के अभ्यास से ही (अर्थात् सबको अपना समझने और सबके कल्याण की कामना करने से ही) पूरी होती है। मैत्रीभावना वाला व्यक्ति न तो ''लोगों से उद्विग्न होता है और न तो लोग उससे उद्विग्न होते हैं'' (''यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः''—गीता)।

●

समवेत मैत्रीभावना का अभ्यास

मैत्रीभावना का अभ्यास अकेले भी किया जा सकता है और समूह में बैठकर भी किया जा सकता है। बहुत से योगी संत महात्मा अपनी कोठरी या गुफा में बैठे हुए सारे संसार के लिए मैत्रीभावना करते रहते हैं। (बिना मैत्रीभावना के कोई सन्त नहीं हो सकता; मैत्रीभावना सन्त का स्वरूपलक्षण है।) एक बार रमण महर्षि से किसी ने अंग्रेजी में पूछा – "Why do you not go out and help others?" ("आप क्यों नहीं बाहर जाकर दूसरों की मदद करते हैं?")। रमण महर्षि ने उत्तर दिया – "Where are others?" ("दूसरे हैं कहाँ?")। तात्पर्य यह है कि संतो के लिए कोई दूसरा (पराया) होता ही नहीं, उनके तो सब अपने ही होते हैं। इसी कारण संत अकेले बैठा हुआ भी सबके कल्याण की निरन्तर कामना (भावना) करते रहता है। सन्त तो अकेला होता ही नहीं; शरीर से वह भले ही अकेला हो, मनसे तो सबको साथ लेकर रहता है। इसी अर्थ में प्रेमी व्यक्ति अपने प्रिय व्यक्ति को कहता है –"मैं सदा तुम्हारे साथ हूँ"। जिन लोगों को अकेलापन कष्टदायक होता है और अकेलापन से डर लगता है, उनके लिए मैत्रीभावना का अभ्यास दवा है। मैत्रीभावना का अभ्यासी शरीर से अकेला रहने पर भी कभी अकेला नहीं रहता; उसका सारा संसार उसके साथ रहता है जिसकी कल्याण कामना करते हुए वह सुखी रहता है। मनोविज्ञान के अनुसार हम वास्तविक भौतिक–संसार में तो बहुत कम ही रहते हैं; अपने मानसिक संसार में ही हम ज्यादा रहते हैं। मानसिक संसार ही हमारा वास्तविक संसार है, भौतिक संसार हमारा वास्तविक संसार नहीं है। इसीलिए परिवर्तन की आवश्यकता मानसिक संसार में है, भौतिक संसार में नहीं। मानसिक संसार में परिवर्तन मानसिक विधा से लाया जा सकता है; मैत्रीभावना वह मानसिक विधा है जिससे अपने मानसिक संसार में परिवर्तन लाते हैं।

यद्यपि मैत्रीभावना का अभ्यासी व्यक्ति अपने आप में समूह भी है और मैत्रीभावना के अभ्यास से उसका और उसके अपने समूह का कल्याण होता है, तथापि यदि कई व्यक्ति एक साथ मिलकर मैत्रीभावना

का ध्यान (अभ्यास) करें तो इससे और भी अधिक लाभ होगा। कई व्यक्तियों के द्वारा एक साथ मिलकर अभ्यास करने को समवेत ध्यान (Collective meditation) या समवेत अभ्यास (Collective exercise) कहा जाता है। समवेत ध्यान में अभ्यासियों की ऊर्जा एक साथ मिलकर बहुत बड़ी ऊर्जा के रूप में निर्मित हो जाती है और बृहत् प्रभाव डालती है। यह वृहत् प्रभाव स्वयं अभ्यासियों पर भी पड़ता है और जिनके प्रति अभ्यास किया जाता है उन पर भी पड़ता हैं।

समवेत मैत्रीभावना सामाजिक परिवर्तन एवं समाज–सुधार की विधा के रूप में विकसित हो सकती है। ऊपर से देखने में इसकी उपयोगिता भले ही स्पष्ट न दीखे, अन्दर से यह सशक्त रूप से काम करती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मैत्रीभावना का सम्प्रेषण संप्रेषित व्यक्ति के लिए सुझाव चिकित्सा (Suggestion Therapy) का काम करती है। समाज का एक सामूहिक मन (Collective Mind) भी होता है जिसे समाज का मानसिक वातावरण (Mental Environmental) कह सकते हैं। समवेत मैत्रीभावना की मानसिक तरंगें उस सामूहिक मन को प्रभावित करती हैं और समाज के मानसिक वातावरण में परिवर्तन लाती हैं। जैसे व्यक्ति की क्रियाएँ उसके मन से ही उत्थित होती हैं और फलतः व्यक्ति की क्रियाओं को प्रभावित करने के लिए उसके मन को प्रभावित करना आवश्यक है, उसी प्रकार समाज की क्रियाएँ भी सामूहिक सामाजिक मन से उत्थित होती हैं और इसी कारण सामाजिक क्रिया–व्यवहार में परिवर्तन लाने के लिए सामाजिक मन में (अर्थात् सामाजिक मानसिक वातावरण में) परिवर्तन लाना आवश्यक है। मानसिक परिवर्तन मानसिक उपाय से ही आ सकता है, चाहे वह व्यक्ति का मन हो या समाज का मन हो; मैत्रीभावना मानसिक उपाय ही है।

शक्ति का यह नियम है कि जो शक्ति (energy) जितनी ही अधिक सूक्ष्म होती है वह उतनी ही अधिक शक्तिशाली और कारगर होती है। विद्युत् चुम्बकीय शक्ति (Electromagnetic Energy) स्थूल पदार्थ (Mass) से अधिक सूक्ष्म होती है और इसीलिए अधिक शक्तिशाली होती है। इसी प्रकार भावना की शक्ति (अर्थात् मानसिक शक्ति) सूक्ष्म होने के कारण भौतिक वस्तु समूह की तुलना में अधिक प्रबल होती है। साथ ही, मानसिक

परिवर्तन के लिए तो मानसिक शक्ति का प्रयोग ही विशेष रूप से कारगर होगा। सन्त–महात्माओं की उपस्थिति से यही सूक्ष्म शक्ति आस–पास के वातावरण में परिवर्तन लाने का काम करती हैं। संत–महात्मा बिना बोले, या प्रकट रूप से बिना कुछ किए, मौन रूप में सहायता करते रहते हैं जो उनका स्वभाव है, मौन भाषा के द्वारा (जो भावना या मानसिक सन्देश की भाषा है) वे बोलने और करने की तुलना में अधिक परिवर्तन लाते हैं। मैत्रीभावना आध्यात्मिक शक्ति है जो भौतिक शक्ति से अधिक सूक्ष्म है, इसीलिए वह भौतिक शक्ति की तुलना में अधिक ताकतवर है। आधुनिक भौतिक विज्ञान भी इस बात की पुष्टि करता है कि स्थूल प्रभाव की तुलना में सूक्ष्म प्रभाव अधिक प्रबल और कारगर होता है।

मैत्रीभावना का समवेत अभ्यास दो रूपों में किया जा सकता है। एक तो, एक ही स्थान पर एक ही साथ बैठकर कई लोगों के द्वारा एक साथ मैत्रीभाव करना। सबके द्वारा एक साथ प्रारम्भ करने एवं समाप्त करने हेतु निर्देशित करने के लिए किसी एक व्यक्ति के द्वारा कोई संकेत किया जा सकता है। उदाहरण के लिए लम्बे 'ॐ' (ओंकार) का उच्चारण किया जा सकता है, ''आमिन'' (Amen) या 'अल्लाह' आदि प्लुत स्वर में (अर्थात् लम्बे स्वर में) कहा जा सकता है, घंटी का निनाद किया जा सकता है, आदि। दूसरा तरीका यह है कि अभ्यासी लोग एक साथ न इकट्ठा होकर अलग–अलग अपने स्थान पर करना चाहें तो वे चौबीस घण्टे में कोई एक समय (कालावधि) निश्चित कर लें और सभी लोग उस समय मैत्रीभावना करें। अलग–अलग स्थान पर होने पर भी सबकी मैत्रीभावनाएँ ऊपर उठकर आपस में मिल जाएँगी और सामूहिक शक्तिपुञ्ज (Unified Forcefield) बना लेंगी तथा वातावरण को सामूहिक रूप से प्रभावित करेंगी।

विद्युत् के सूखे सेल (dry cell) का उदाहरण है कि कई सेल को एक साथ मिला दिया जाय तो उससे केवल ''वाट–शक्ति'' (Wattage) ही नहीं बढ़ती वरन् वोल्टशक्ति (Voltage) भी बढ़ जाती है, अर्थात् विद्युत् शक्ति के प्रवाह में अधिक तीव्रता या प्रबलता आ जाती है जिससे वह बड़ा प्रभाव सम्पादित कर देती है। इसी प्रकार कई लोगों की समवेत मैत्रीभावना बहुत प्रभावशक्ति पैदा कर देती है। यदि समाज के केवल एक प्रतिशत लोग समवेत रूप में गहन मैत्रीभावना करें तो पूरे समाज को बदल देंगे।

●

''कठोर'' मैत्रीभावना का अभ्यास

मैत्रीभावना के सन्दर्भ में ''कठोर'' शब्द का तात्पर्य ''क्रूर'' होना या निर्दय होना नहीं है वरन् 'कड़ा' होना अर्थात् कड़ा रुख अपनाना है। कभी–कभी अपना प्रिय व्यक्ति जब रास्ते पर नहीं आता और समझाने आदि से नहीं मानता तो उसके सुधार के लिए कड़ा रूख अपनाना पड़ता है।

प्रेम की यह माँग है कि यदि प्रिय व्यक्ति सीधे उपाय से रास्ते पर नहीं आता तो उसके प्रति कड़ा या कठोर हुआ जाय। दण्ड–व्यवस्था तो कठोर होती ही है, मैत्रीभावना भी ''कठोर'' रूप में की जा सकती है, और उसका सबल मानसिक सम्प्रेषण प्रिय व्यक्ति के प्रति किया जा सकता है।

''कठोर'' मैत्रीभावना तब करनी पड़ती है जब बिगड़े व्यक्ति को सुधारना हो और वह व्यक्ति सामान्य तरीकों से नहीं सुधर रहा हो। ''कठोर'' मैत्रीभावना सम्प्रेषित करने की विधा यह है कि सम्प्रेषित व्यक्ति का मन में ध्यान किया जाय मानो वह हमारे सामने बैठा है और हम उससे बात कर रहे हैं; मन में ही दृढ़तापूर्वक (या डाँटकर) उससे कहें कि ''गलत रास्ते पर हो, अभिमान में अपने को सही समझ रहे हो, तुम सत्य को देखो, अपने वास्तविक कल्याण को देखो और अपने को सुधार लो ताकि सुखी हो सको।''

यहाँ ध्यान रखने की बात है कि संप्रेषित व्यक्ति (target person) के शुद्ध कल्याण के लिए मैत्रीभावना की जाय न कि अपनी स्वार्थ–सिद्धि के लिए अथवा अपना गुस्सा उतारने के लिए। सम्प्रेषक व्यक्ति के मन में यदि स्वार्थ है और परत्व का भाव है तो मैत्रीभावना लागू नहीं होगी, संप्रेषित व्यक्ति का अन्तर्मन उसे स्वीकार ही नहीं करेगा।

सम्प्रेषित व्यक्ति का अन्तर्मन संप्रेषक व्यक्ति के मैत्रीभावना के संदेश को स्वीकार कर ले, इसके लिए दो बातें आवश्यक हैं। पहली बात यह कि संप्रेषक का मनोबल प्रबल हो, फलतः उसकी मैत्रीभावना का प्रवाह–बल (Voltage) काफी तगड़ा हो। दूसरी बात यह कि संप्रेषित व्यक्ति का मन (target mind) प्रतिरोध (resistance) न करे या प्रतिरोध ढीला कर दे। इस

बात को एक दृष्टांत की सहायता से समझा जा सकता है। ''क'' की ''ख'' पहलवान से कुश्ती हो रही हो और यदि ''क'' को ''ख'' के ऊपर विजय पानी हो तो इसके लिए दो बातें आवश्यक हैं, एक तो ''क'' में अधिक शक्ति हो, और दूसरे, ''ख'' की ओर से प्रतिरोध न किया जाय अर्थात् ''ख'' ''क'' का वर्चस्व मान ले। यह बहुत अच्छा दृष्टान्त नहीं है, फिर भी बात समझने में सहायक है। मैत्रीभावना के सम्प्रेषक का बलवान होना और संप्रेषित व्यक्ति के मन द्वारा सम्प्रेषक की बात मान लेना–यह संप्रेषण की सफलता का कारक है।

अब देखा जाय कि कैसे ये दोनों बातें संभव होती हैं। जहाँ तक पहली बात का सम्बन्ध है, यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि मैत्रीभावना के अभ्यासी व्यक्ति का मनोबल कहुत तगड़ा होता है, उसकी इच्छा शक्ति (Will Power) बहुत सबल होती है। जो व्यक्ति स्वार्थी होता है, केवल अपने ही विषय में सोचता रहता है और दूसरे का हित नहीं सोचता, उसका मन कमजोर होता है, वह दूसरे के मन पर प्रभाव नहीं डाल सकता। इसके विपरीत जो दूसरों का हित सोचता है, प्रेमी होता है अर्थात् मैत्रीभावना वाला होता है, उसकी चेतना अधिक विकसित, अधिक विस्तृत और अधिक बलवती होती है। दूसरी ओर, यदि सम्प्रेषक व्यक्ति (''क'') संप्रेषित व्यक्ति (''ख'') के शुद्ध कल्याण भाव से संदेश (Suggestion) देता है तो ''ख'' का अन्तर्मन उसका प्रतिरोध नहीं करता। यहाँ ध्यान देने योग्य है कि प्रत्येक व्यक्ति में दो मन होते हैं – एक चेतन मन (Conscious mind) और दूसरा अचेतन मन (unconscious mind) या अवचेतन मन (sub-conscious mind)। यह भी सत्य है कि व्यक्ति का अवचेतन मन उसके चेतन मन से ज्यादा समझदार होता है। मैत्रीभावना का सन्देश (suggestion) संप्रेषित व्यक्ति (''ख'') के चेतन मन को नहीं वरन् उसके अवचेतन मन को दिया जाता है। ''ख'' का चेतन मन तो ''क'' की बात नहीं भी मान सकता है और झगड़ा कर ले सकता है; किन्तु उसका अवचेतन मन यह समझ लेता है कि ''क'' उसके हित की ही बात कर रहा है, अतः वह ''क'' का सन्देश सुनने और उसे मानने की ओर अग्रसर होता है। हाँ, यहाँ आवश्यक है कि ''क'' (संप्रेषक) अपने स्वार्थ और अहं को पूर्णतया हटा कर केवल ''ख'' (संप्रेषित व्यक्ति) के हित के लिए सन्देश दे। यदि ''क'' के सन्देश में

उसका स्वार्थ मिला हुआ है तो "ख" का अवचेतन मन उसे अस्वीकार कर देगा और प्रतिरोध (resistance) बढ़ जाएगा। कुछ मनोवैज्ञानिक प्रयोगों से यह बात स्पष्ट हो जाती है। उल्लेख आया है कि किसी मनोविश्लेषण प्रयोगकर्ता ने केवल प्रयोग की दृष्टि से एक महिला को सम्मोहित होने के लिए राजी किया और सम्मोहन विधि के द्वारा उस महिला को सम्मोहित किया। सम्मोहन की अवस्था में सम्मोहित का चेतन मन सो जाता है किन्तु उसका अवचेतन मन जाग्रत रहता है और सम्मोहन के संदेश को ग्रहण करता है। कुछ देर तक, जब तक सम्मोहक (hypnotist) उस महिला के हित के लिए सन्देश देता रहा, महिला का मन उसे ग्रहण और स्वीकार करता गया। किन्तु थोड़ी देर के बाद सम्मोहक ने (प्रयोग के लिए ही सही) महिला को यह सन्देश दिया कि तुम हमारे साथ काम–संबंध स्थापित करो; इस पर महिला का सम्मोहन तुरन्त टूट गया और वह उठकर जाने लगी। स्पष्ट है कि जब तक महिला का अंतर्मन (अवचेतन मन) यह समझता रहा कि हमारे हित के लिए संदेश (suggestion) दिया जा रहा है, तब तक वह मानता रहा; किन्तु जब उसने देखा कि हमारे हित के लिए नहीं वरन् सम्मोहक अपने स्वार्थसिद्धि के लिए संदेश दे रहा है (जो महिला के लिए अहितकर है) तब उसने (महिला के अवचेतन मन ने) संदेश को नकार दिया और सम्मोहन भी तोड़ दिया।

लेखक के मनोवैज्ञानिक गुरु, प्रोफेसर लालजी राम शुक्ल, ने मैत्रीभावना की संदेश–चिकित्सा विधि (Suggestion Therapy) के द्वारा कई बिगड़ैल बच्चों (problem children) का सफलतापूर्वक उपचार किया है। प्रो0 शुक्ल का कहना था कि संदेश–चिकित्सक (Suggestion-therapist) जब निःस्वार्थ भाव से किसी व्यक्ति के हित के लिए संदश देता है तो उस व्यक्ति का अवचेतन मन उस संदेश को मान लेता है। उसके चेतन मन को कहिए अर्थात् व्यक्त भाषा में बोलकर या लिखकर उससे बात करिए तो वह नहीं मानेगा, किन्तु मैत्रीभावना का संदेश तो बिना बोले मौन भाषा में अर्थात् भावना या मानसिक विचार के द्वारा दिया जाता है, यह भी है कि यह संदेश व्यक्ति के चेतन मन को नहीं बल्कि उसके अवचेतन मन को दिया जाता है, मैत्रीभावना में उसके अवचेतन मन को ही सम्बोधित किया जाता है। इसीलिए इसमें सफलता मिलती है। लेखक के भी मैत्रीभावना के

प्रयोगों में ऐसे उदाहरण आए हैं जहाँ ऐसे लोगों में परिवर्तन आया है जिनका मन बहुत अहंकारपूर्ण जिद्दी और उद्दण्ड था। लेखक उन व्यक्तियों से चेतन तौर पर बातचीत में इस विषय में कुछ भी नहीं कहता था किन्तु अन्दर–अन्दर ही मैत्रीभावना का निर्देश उनके सुधार के लिए उन्हें (उनके अवचेतन मन को) देता रहा और कुछ दिनों के बाद उन व्यक्तियों में सुधार पाया गया, फलतः तत्संबंधी समस्या का समाधान हुआ। लेखक ने देखा कि मैत्रीभावना की निर्देश या सन्देश (suggestion) विधि से संदेशित व्यक्ति में अवश्य परिवर्तन आता है। व्यक्ति में कितना परिवर्तन आया यह इस पर निर्भर करेगा कि उसे कितने समय तक और कितनी गहनता (intensity) के साथ मैत्रीभावना का संदेश दिया गया। साथ ही सफलता इस बात पर भी निर्भर करेगी कि मैत्रीभावक ने शुद्ध भाव से अर्थात् अपने अहं और स्वार्थ से पूर्णतया मुक्त होकर संदेशित व्यक्ति के हितमात्र के लिए संदेश दिया। मैत्रीभावना के प्रयोग में कई बार ऐसा देखा गया है कि सम्प्रेषित व्यक्ति ने अपनी गलती महसूस की और सम्बद्ध व्यक्ति से क्षमा–याचना की। ऐसे पिता या अभिभावक जो अपने बिगड़े बच्चों की समस्या से त्रस्त हैं, उन्हें मैत्रीभावना का यह प्रयोग कर देखना चाहिए। पति, पत्नी, भाई, मित्र, सहकर्मी, अधिकारी, अधिशासित, पड़ोसी, रिश्तेदार, शिक्षक, विद्यार्थी – सबके साथ इस ढंग की समस्या आ सकती है अर्थात् उनका प्रतियोगी व्यक्ति समस्या बनकर उनके लिए तनाव पैदा कर सकता है; ऐसी स्थिति में मैत्रीभावना का उपर्युक्त विधि से प्रयोग कारगर सिद्ध होता है।

दण्ड से भी सुधार होता है, किन्तु दण्ड से सुधार तभी होता है जब दण्डनीय व्यक्ति के प्रति अपनत्व मानकर प्रेम के भाव से दण्ड दिया जाय, शत्रुता के भाव से नहीं। शत्रुता के भाव से अथवा क्रोध में आकर दण्ड देने पर प्रायः दण्डित व्यक्ति का मन और भी उद्दण्ड हो जाता है और बदला लेने की भावना से ग्रसित हो जाता है। कई अपराधियों का प्रारंभिक इतिहास इसी प्रकार का होता है। कई पिता या अभिभावक अपने शरारती बच्चों को बहुत पीटते हैं और बच्चों को भला–बुरा कहते हैं। किन्तु ऐसे में परिणाम प्रायः उलटा ही देखा जाता है। अभिभावक शिकायत करते हैं – इसको इतना पीटता हूँ फिर भी इसमें सुधार नहीं आता। उसमें सुधार

आएगा भी कैसे? वह पीटना मैत्रीभावना में पीटना तो होता नहीं, वह तो अभिभावक के क्रोध का प्रकटीकरण मात्र होता है; बच्चे की शरारत से अभिभावक को क्रोध आता है और वह बच्चें को पीटकर अपना गुस्सा उतारता है। मैत्रीभावना में दिया गया दण्ड इससे भिन्न है। उसकी पहली शर्त यह है कि अपना गुस्सा उतारने के लिए दण्ड नहीं देना चाहिए। मैत्रीभावना वाले दण्ड में तो क्रोध होना ही नहीं चाहिए, बनावटी क्रोध की बात अलग है। कई समझदार अभिभावक या माता–पिता मैत्रीभावना में बच्चे को सुधारने की दृष्टि से बनावटी गुस्सा करते हैं, वे बच्चे पर अपना गुस्सा नहीं उतारते क्योंकि उस समय वास्तविक गुस्सा है ही नहीं, बनावटी गुस्सा को गुस्सा कहेंगे ही नहीं। जब हम क्रोध में हैं तो प्रेम में नहीं हैं, क्रोध में होकर हम प्रेम में हो भी नहीं सकते (बनावटी क्रोध की बात अलग है क्योंकि वहाँ वास्तविक क्रोध है ही नहीं)। दण्ड देते समय हम प्रेम में हो सकते हैं, दण्ड देना और क्रोध में होना ये दोनों बातें बिल्कुल अलग हैं। क्रोध में हम जो क्रोध के पात्र के प्रति व्यवहार करते हैं उसे हम शब्दावली में दण्ड भले ही कहें, वह दण्ड है ही नहीं; वह तो उस व्यक्ति के प्रति हिंसा करके अपना क्रोध उतारना है, उसके सुधार के लिए उसे दण्ड देना नहीं है। मैत्रीभाव में दिए गए दण्ड में यह आवश्यक है कि उस व्यक्ति के प्रति अपनत्व का भाव (अर्थात् प्रेम) बना रहे, क्रोध बिल्कुल न हो और उसके सुधार का उद्देश्य रहे, उसे नुकसान पहुँचाने का नहीं। द्वेष और क्रोध एक प्रकार का ''ज्वर'' (बुखार) है जिसे उतार कर ही दण्ड देना या लड़ाई करना उचित है। इसीलिए गीता में भगवान कृष्ण ने अर्जुन से कहा – ''ज्वर'' हटाकर लड़ो'' (''युद्धस्व विगतज्वरः'')। ''ज्वर'' विहीन लड़ाई का मैत्रीभावना से कोई विरोध नहीं है।

प्रेम में दण्ड देने के भी अनेक रूप हैं। जब माँ अपने शरारती बच्चे को कहती है 'मैं तुमसे नहीं बोलूँगी' और थोड़ी देर के लिए नहीं बोलती है तो यह भी दण्ड देना है, और बच्चे पर यह दण्ड भारी पड़ता है। यह प्रेम का दण्ड है, शत्रुता का नहीं। कभी–कभी अपने प्रिय पात्र में सुधार लाने के लिए हम अपने को कष्ट देते हैं, अपने को मारते हैं। किन्तु यदि हम प्रिय पात्र से बदला लेने के लिए और उसे पीड़ित करने के लिए अपने को कष्ट देते हैं तो यह हिंसा है जिसे हम उस व्यक्ति के प्रति कर रहे

हैं। अपने प्रति की गई इस प्रकार की हिंसा वस्तुतः दूसरे के प्रति की जाने वाली हिंसा का ही छद्म रूप है। यह (सुधार के लिए) दण्ड देना नहीं है, यह बदला लेना है, जो हिंसा है, दण्ड नहीं। या तो राग–द्वेष से रहित होकर शुद्ध कर्तव्य भाव से दण्ड दीजिए, जैसा कि न्यायाधीश करता है या जल्लाद करता है, वह हिंसा नहीं है; या प्रिय व्यक्ति के सुधार के लिए प्रेम में दण्ड दीजिए, यह भी हिंसा नहीं होगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि "कठोर" मैत्रीभावना के दो रूप हैं। (1) पहला यह जिसमें बिना किसी बाहरी व्यवहार के हम केवल मन से ही (मानसिक स्तर पर ही) बिगड़े व्यक्ति के सुधार के लिए मैत्रीभाव करते हैं। इसमें हम मन में ही दृढ़तापूर्वक या कठोरतापूर्वक उस व्यक्ति को कहते हैं – तुम सुधर जाओ, गलत रास्ता छोड़ो, अपनी गलती को महसूस करो और भला बन जाओ; इसी में तुम्हारा कल्याण है, तुम्हारा सुख है, आदि। (2) दूसरा यह जिसमें हम अपने बाह्य व्यवहार में भी उस व्यक्ति के प्रति कठोरता अपनाते हैं या उसे दण्ड देते हैं ताकि उसका सुधार हो सके। यहाँ ध्यान रखने की बात है कि "कठोर" मैत्रीभावना के इन दोनों रूपों में उस व्यक्ति के प्रति हमारा प्रेम बरकरार रहे (या रखना चाहिए); दोनों स्थितियों में यह आवश्यक है कि हम उस 'बिगड़े' व्यक्ति को (या 'शत्रुता' करने वाले व्यक्ति को) अपना ही समझें (पराया न समझें) जैसा कि हम अपने बिगड़े बच्चे को समझते हैं, उसके प्रति कठोरता करने में हम अपना अहं और अपना स्वार्थ पूर्णतः अलग रक्खें, केवल शुद्ध रूप से उसके हित का उद्देश्य रक्खें, साथ ही बिना क्रोध या "ज्वर" के ("विगतज्वर" होकर) कठोर व्यवहार करें या दण्ड दें। यदि हममें अहं, स्वार्थ और क्रोध रहा तो मैत्रीभावना सफल नहीं होगी; यदि प्रेम रहा तो कठोर मैत्रीभावना कारगर होगी।

लड़ाई करते समय मनःस्थिति कैसी होनी चाहिए इस विषय में गीता में स्पष्ट किया गया है कि लड़ाई लड़ने या दण्ड देने की स्थिति में दो प्रकार की मनःस्थिति स्वस्थ है और वांछित सफलता की जननी है। पहली यह कि राग–द्वेष से पूर्णतः मुक्त होकर केवल शुद्ध कर्तव्य भाव से लड़ाई की जाय या दण्ड दिया जाय जैसा कि न्यायाधीश करता है या जल्लाद करता है। दूसरी यह कि निःस्वार्थ भाव से प्रेम में व्यक्ति को अपना

समझकर उसके सुधार के लिए कठोर व्यवहार किया जाय – लड़ाई की जाय या दण्ड दिया जाय; लड़ाई करते समय या दण्ड देते समय मैत्रीभाव बरकरार रहना चाहिए ("मैत्रः करुण एव च")। यदि लड़ाई करनी ही पड़े तो कर्तव्य–भाव और 'प्रेम–भाव'–यही दो मनःस्थितियाँ हैं जिनमें लड़ाई को उचित कहा जाएगा और लड़ाई कारगर भी होगी।

उपर्युक्त विवरण से यह बात स्पष्ट हो जानी चाहिए कि मैत्रीभावना का अर्थ यह नहीं है कि चोर को चोरी करने दिया जाय ओर उसे दण्ड न दिया जाय, अथवा दुष्ट व्यक्ति को दुष्टता करते रहने की छूट दे दी जाय। दुष्ट व्यक्ति को तो दण्ड मिलना चाहिए, और उसे दण्ड मिलेगा ही। हम न भी दण्ड दें तो प्रकृति तो उसे दण्ड देगी ही, हम न भी चाहें कि उसे दण्ड मिले तब भी उसे तो ईश्वरीय प्रकृति के नियम के अनुसार दण्ड मिलना ही है। उसकी दुष्टता और अपराध–वृत्ति छूटने के लिए उसे दण्ड मिलना आवश्यक है; इसी में उसका हित है, और समाज का भी हित है। बस इतना ही ध्यान रखने की बात है (और यह बहुत महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक बात है) कि उसे अपनत्व के साथ प्रेम के भाव से, बिना अपना अहंकार और क्रोध किए , शुद्ध रूप से उसके सुधार अर्थात् उसके हित के लिए दण्ड दिया जाय। एक वाक्य में कहें कि उसके प्रति हमारा कठोर भाव या हमारे द्वारा दण्ड दिया जाना भी प्रेम की माँग के अनुरूप ही होना चाहिए। यह बिल्कुल सम्भव है कि हम अपने प्रिय व्यक्ति की भलाई के लिए जरूरत पड़ने पर द्वेष रहित होकर प्रेम में उसके प्रति कठोर भाव करें ताकि वह सही रास्ते पर आ जाए और सुखी हो। "कठोर" मैत्रीभावना का यही अर्थ है।

कुछ लोग मैत्रीभावना का उपर्युक्त अर्थ न समझने के कारण यह मान बैठते हैं कि मैत्रीभावना एवं दण्ड व्यवस्था में विरोध है तथा वे मैत्रीभावना का इन शब्दों में प्रतिवाद करते हैं कि दुष्टों और अपराधियों के साथ मैत्रीभावना नहीं चलेगी। स्पष्ट है कि उनकी यह समझ भ्रान्तिपूर्ण है।

उपर्युक्त विवरण से यह भी स्पष्ट है कि मैत्रीभावना में कोई व्यक्ति छूटना नहीं चाहिए, अर्थात् मैत्रीभावना सबके प्रति करनी है – दुष्ट और अपराधी के प्रति भी। यह स्पष्ट किया जा चुका है कि दुष्ट के प्रति मैत्रीभावना का यह रूप होगा कि हम उसके प्रति भावना करें कि वह

अपनी दुष्टता छोड़े, सुधर जाय, अपनी गलती महसूस करे और भला बन जाय क्योंकि इसी में उसका हित है। चोर का वास्तविक हित इसमें नहीं है कि वह चोरी करते समय पकड़ा न जावे और दण्ड न पावे, वरन् उसका हित इसमें है कि चोरी करना छोड़कर सही मार्ग पर चले, और उसमें यह परिवर्तन आने के लिए उसे दण्ड मिलना आवश्यक हो तो उसे दण्ड मिले। (दुष्ट या दुश्मन के प्रति मैत्रीभावना करना क्यों अपने स्वयं के लिए आवश्यक है इसकी विस्तृत चर्चा पहले हो चुकी है)।

यह भी संकेत किया जा चुका है कि आध्यात्मिक योग–परम्परा में मैत्री के साथ जो उपेक्षा की सलाह दी गई है (मैत्री, मुदिता, करुणा, उपेक्षा) उसका प्रसंगानुसार यह अर्थ लगाना चाहिए कि जो साधक जब तक अभी कच्चे मन के हैं और जिन पर बुराई के विषय में सोचने पर बुरा प्रभाव पड़ सकता है, उन्हें चाहिए कि तब तक बुरे व्यक्तियों की उपेक्षा करें ताकि उनका मन बुरी सोच के प्रभाव से सुरक्षित रहे। साधक का मन पक्का हो जाने पर तो और आगे बढ़ने के लिए बुरे को भी प्यार करना और उसके सही बनने की मैत्रीभावना करना आवश्यक है। विकसित चेतना वाला व्यक्ति सबको अपना समझता है, दुष्ट को भी, ("सर्वभूतात्मभूतात्मा") और फलतः सबके कल्याण के लिए सचेष्ट रहता है ("सर्वभूतहिते रताः")। यही कारण है कि सन्त–महात्मा (जिनकी चेतना विकसित होती है) दुष्टों और अपराधियों की उपेक्षा नहीं करते, उन्हें भी अपना समझकर और अपना कर उन्हें सही रास्ते पर मोड़ने का प्रयास करते हैं। एक बार पसिद्ध महिला सूफी संत रबिया से किसी व्यक्ति ने कहा कि इस्लाम के अनुसार शैतान को घृणा करना चाहिए। रबिया ने उत्तर दिया कि घृणा किसी को भी नहीं करनी चाहिए, शैतान को भी नहीं, शैतान को उसके सुधरने की भावना करनी चाहिए। इस्लामी परम्परा में शैतान को जो पत्थर मारने की रश्म अदा की जाती है उसका अर्थ यह समझना चाहिए कि शैतान को सुधरने के लिए दण्ड किया जा रहा है, घृणा नहीं की जा रही है। सन्त–महात्मा दुष्ट व्यक्ति को सुधारने का बाहरी प्रयास भले न करें, अन्दर से वे उसके सुधर जाने की मैत्रीभावना करते रहते हैं। तात्पर्य यह है कि उपेक्षा का भाव केवल प्रारंभिक साधक के प्रसंग में ही सार्थक है, विकसित चेतना की स्थिति में वह लागू नहीं होगा। साथ ही, उपेक्षा का वास्तविक

अर्थ है राग और द्वेष दोनों से रहित होना। मैत्रीभावना के अभ्यास में तो राग और द्वेष दोनों से मुक्त हुआ ही जाता है। (हम पहले इस बात की चर्चा कर चुके हैं कि मैत्रीभावना के अभ्यास से द्वेष की निवृत्ति होने के साथ–साथ राग की भी निवृत्ति होती है। राग और प्रेम ये दोनों भिन्न हैं। राग तो आसक्ति की अवस्था है जो सूक्ष्म रूप में स्वार्थ ही है। किन्तु प्रेम अनासक्ति की अवस्था है जो निःस्वार्थ है। मैत्रीभावना अर्थात् प्रेम के अभ्यास से राग और द्वेष दोनों रूपांतरित होकर प्रेम बन जाते हैं। सन्त के हृदय में प्रेम सबके प्रति होता है, राग या द्वेष किसी के प्रति नहीं होता। प्रेमी होना ही सन्त होने की पहचान है, और राग–द्वेष से युक्त व्यक्ति प्रेमी नहीं हो सकता।)

कठोर मैत्रीभावना का मुख्य रूप से प्रयोग समस्या वाले व्यक्ति में सुधार के लिए ही किया जाता है। इससे मैत्रीभावना करने वाले व्यक्ति में भी सुधार आता है। पहले ही इस बात का संकेत किया जा चुका है कि दूसरों में जिस परिवर्तन की कामना हम करते हैं और तत्संबंधी मैत्रीभावना उन्हें देते हैं, वैसा ही परिवर्तन हमारे भीतर अपने आप होता है। ऐसा न समझा जाय कि हममें कोई कमी नहीं है और किसी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं हैं; हम सब में कुछ न कुछ कमी या गलती होती है जिसमें सुधार की आवश्यकता होती है। जब हम दूसरों के भला बनने की कामना करते हैं, और मैत्रीभावना के रूप में उसे बार–बार मन में दुहराते हैं तो हमारे मन में भला होने का एक चित्र बन जाता है; उसे हमारा मन आत्मसात् कर लेता है और वह भला रूप हमारे व्यक्तित्व या स्वभाव का अंग बन जाता है। इसी नियम के अनुसार ऐसा होता है कि दूसरों में हम दुष्टता या बुराई देखते रहते हैं तो बुराई का चित्र हमारे मन में बन जाता है और हम अपने अनजाने ही उस बुराई से तादात्म्य कर उसे आत्मसात् कर लेते हैं और फलतः वह बुराई हमारे स्वभाव का भी अंग बन जाती है। इसी कारण हमारा चित्त जब दूसरों में बुराई देखता है तो स्वयं बुरा होने लगता है और भलाई देखता है तो भला होने लगता है। मैत्रीभावना में हम दूसरों में भला होने का चित्र देखते या स्थापित करते हैं, और वह चित्र अपने आप हमारे भीतर भी स्थापित हो जाता है। इस प्रकार दूसरे भी भला बनते हैं और हम भी भला बनते हैं। इसीलिए कहा गया है कि किसी

व्यक्ति को इस रूप में मत देखिए जैसा वह इस समय है, वरन् इस रूप में देखिए जैसा आप चाहते हैं कि वह हो जाए; इससे वह भी वैसा हो जाएगा और आप भी वैसा हो जाएँगे।

चूँकि सब में कुछ न कुछ बुराई होती है अतः सबके सुखी होने की मैत्रीभावना करने के साथ सबके भला बनने की मैत्रीभावना करना आवश्यक है। इसीलिए मैत्रीभावना के जपने का जो मंत्र हैं, उसके तीन बिन्दु हैं – (1) तुम हमारे ही हो, पराया नहीं, (2) तुम भला हो जाओ, और (3) तुम सुखी रहो। अंग्रेजी में कहें – ''यू आर माइ ओन, बी गुड, बी हैपी'' ("You are my own, be good, be happy").

●

मैत्रीभावना में क्षमा का अर्थ और उसकी आवश्यकता

अपराधी को क्षमा करना चाहिए या क्षमा नहीं करना चाहिए इस विषय पर मतभेद हो सकता है। कुछ लोग यह कहेंगे कि क्षमा करना बड़प्पन का लक्षण है ("क्षमा बड़न को चाहिए"), क्षमा शक्तिशाली व्यक्ति का आभूषण है, ("वित्ते त्यागः क्षमा शक्तौ, दुःखे दैन्यविहीनता"), क्षमा सद्गुण या सद्धर्म है (धर्म के दस लक्षणों में क्षमा भी शामिल है – "धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं....."), अतः क्षमा करना चाहिए। किन्तु दूसरे लोग यह कहेंगे कि अपराधी को क्षमा करना अपराध को बढ़ावा देना है, अतः अपराधी को क्षमा नहीं करना चाहिए, उसे अवश्य दण्ड देना चाहिए। वे लोग यह भी कह सकते हैं कि क्षमा तो कमजोरी, कायरता और नपुंसकता का लक्षण है। संस्कृत के प्रसिद्ध कवि भारवि के एक श्लोक का अर्थ है –"वही व्यक्ति पुरुष है जो अमर्षी है और अक्षमी है, जो क्षमावान् है और निरमर्ष है वह तो न स्त्री है न पुरुष, अर्थात् वह नपुंसक है ("एतावानेव पुरुषो यदमर्षी यदक्षमी। क्षमावान् निरमर्षश्च नैव स्त्री न पुनः पुमान्।।")। कविवर दिनकर ने अपने "कुरूक्षेत्र" में कहा है–

"क्षमा शोभती उस भुजंग को जिसके पास गरल है।
उसको क्या जो दन्तहीन विषरहित विनीत सरल है।।"

क्षमा के प्रति इन दोनों अवधारणाओं में दम दीखता है और दोनों ही अवधारणाएँ अपनी अपनी जगह सही दीखती हैं। अतः इन दोनों के समन्वित अर्थ को समझ लेना और क्षमा के गूढ़ार्थ को जान लेना आवश्यक है। विशेषतः, मैत्रीभावना का साधक जो सबका भला चाहता है, सबके भला बनने की मैत्रीभावना करता है और बिगड़े व्यक्ति के सुधार के लिए आवश्यकतानुसार दण्ड व्यवस्था को मान्यता देता है, उसके लिए यह जान लेना आवश्यक है कि क्षमा का क्या वास्तविक अर्थ है और मैत्रीभावना में किस क्षमा की आवश्यकता है। अपराधी को उसके सुधार के लिए दण्ड भी देना है और मन में क्षमा का भाव भी रखना है; फिर क्षमा का क्या अर्थ है?

प्रेम और स्वार्थ (जो एक–दूसरे के विपरीत हैं) के सम्बन्ध में एक

कहावत वाक्य साई बाबा के आश्रम में अंग्रेजी में लिखा हुआ देखा – "Love gives and forgives, selfishness gets and forgets.", हिन्दी में कहें – "प्रेम देता है और क्षमा करता है, स्वार्थ लेता है और भूल जाता है"। इस वाक्य का गूढ़ार्थ समझ लिया जाय तो क्षमा का वास्तविक अर्थ समझ में आ जाएगा।

अबतक जो चर्चा हुई है उससे यह स्पष्ट है कि दुष्ट व्यक्ति या अपराधी व्यक्ति के प्रति हमारे प्रेम की दो माँगें हैं। एक माँग यह है कि वह सामान्य रीति से नहीं सुधरता है तो उसके सुधार के लिए (उसमें परिवर्तन लाने के लिए) उसे दण्ड देना आवश्यक है; सुधर जाने में ही उसका हित है और उसका हित चाहना ही प्रेम है। प्रेम की दूसरी माँग यह है कि उसके प्रति द्वेषभाव या क्रोध का भाव न हो, हमारे मन में उसके प्रति कोई दुर्भावना न हो, सद्भावना ही हो। यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि यदि द्वेषभाव से दण्ड दिया जाता है या अपना गुस्सा उतारा जाता है तो यह हिंसा है, दण्ड नहीं। साथ ही, यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि द्वेषभाव या क्रोध अपने स्वयं के लिए हानिकारक है अतः अपने स्वयं के मानसिक स्वास्थ्य के लिए यह आवश्यक है कि द्वेष न रक्खा जाय।

इसी द्वेष भाव या दुर्भावना से मुक्त हो जाना ही क्षमा करने का अर्थ है। सुधार के लिए दण्ड देना तो अपराधी के हित में है और आवश्यक है, दण्ड न देना क्षमा नहीं है। कभी–कभी ऐसा भी होता है कि किसी ने हमारे प्रति अपराध किया, उसे हम दण्ड नहीं देते हैं किन्तु मन में उसके प्रति द्वेष या दुर्भावना रक्खे रहते हैं, मन में उसके लिए क्रोध बना रहता है। इसका अर्थ है कि हमने क्षमा नहीं किया। क्षमा तो मन की वस्तु है, मन से क्षमा नहीं किया इसे क्षमा नहीं कहेंगे। किसी के प्रति हमारे मन में क्रोध है तो हमारे शुभचिन्तक हमको कहते हैं– "गुस्सा थूक दो, माफ कर दो"। यह "गुस्सा थूक देना" ही क्षमा करना है, दण्ड देने से विरत होना क्षमा करना नहीं है। जो प्रेम करता है वह पहले से ही क्षमा किए रहता है, सदा क्षमा के भाव में रहता है, भले ही सुधार के लिए कठोर भी होता रहता हो, दण्ड भी देता रहता हो। क्षमा प्रेम का स्वभाव है ("Love gives and forgives"), 'या यों कहिए कि प्रेम और क्षमा एक ही वस्तु है। इस अर्थ में **क्षमा** शाश्वत गुण या शाश्वत धर्म है। इसीलिए क्षमा को बड़प्पन की

पहचान और धर्म का लक्षण माना गया है।

क्षमा का उपर्युक्त अर्थ समझा जाय तो यह समझना आसान है कि क्षमा और दण्ड में कोई विरोध नहीं है। क्षमा का संबंध दण्डनीय व्यक्ति के प्रति अपने मन में द्वेषभाव या क्रोध न रखने से है, और दण्ड का सम्बन्ध दण्डनीय व्यक्ति के हित के लिए उसको सुधारने से है। ये दोनों एक साथ चल सकते हैं। संतों और सद्गुरुओं के साथ यह देखा जाता है कि वे सतत क्षमा के भाव में रहते हैं अर्थात् उनमें किसी के प्रति द्वेषभाव नहीं होता; किन्तु साथ ही वे समय–समय पर शिष्यों या व्यक्तियों के प्रति कठोर होते भी देखे जाते हैं। ऊपर से देखने पर संतो के इस व्यवहार में आत्म–विरोध दीखेगा, किन्तु वस्तुतः कोई विरोध नहीं है। यदि दण्ड देने के साथ क्षमा का भाव न रक्खा जाय तो इससे दोहरा नुकसान होगा– एक ओर अपने मन की सुख–शान्ति नष्ट होगी और दूसरी ओर दण्डित व्यक्ति को न्यायोचित मात्रा से अत्यधिक कष्ट मिलेगा और इस प्रकार का दण्ड दण्डित व्यक्ति में सुधार लाने में सक्षम भी नहीं होगा।

यदि क्षमा का अर्थ अपराधी को दण्ड न देना लगाया जाय तो इससे तो अपराधी और समाज दोनों का अहित होगा। क्षमा के इसी अर्थ को ध्यान में रखकर कहा गया है कि अपराधी को क्षमा नहीं करना चाहिए। अपराधी को तो दण्ड देना ही चाहिए; बस इसके साथ यह अपेक्षित है कि बिना द्वेषभाव के दण्ड देना चाहिए। जब कोई राजा या शासक द्वेषभाव से दण्ड देता है तो गलत करता है, किन्तु, प्रजा के हित के लिए और अपराधी के भी हित के लिए दण्ड देना तो शासक का धर्म है, प्रजा के प्रति उसके प्रेम की भी यही माँग है।

उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि जहाँ क्षमा को सतत धारण किए रहने की बात कही गई है वहाँ क्षमा का अर्थ द्वेषभाव छोड़ने से लगाना चाहिए; और जहाँ क्षमा न करने की बात कही गई है वहाँ क्षमा का अर्थ आवश्यक दण्ड न देने से लगाना चाहिए।

●

मैत्रीभावना का आधारभूत दार्शनिक सत्य

प्रत्येक साधना या मार्ग के पीछे कोई न कोई तत्त्व–दार्शनिक सत्य (metaphysical truth) होता है जिस पर वह साधना आधारित होती है। मैत्रीभावना के विषय में भी यह ऐसा ही है। मैत्रीभावना के आधार में जो दार्शनिक सत्य है वह यह है कि सभी वस्तुतः एक हैं, सब में तात्त्विक एकता है। इस दर्शन को अद्वैतवाद, अभेदवाद, सर्वात्मवाद, एकात्मवाद, एकात्ममानववाद, ब्रह्मवाद आदि नामों से अभिहित किया जा सकता है।

अभेद का यह दर्शन कल्पना पर या कोरे विश्वास पर आधारित नहीं है वरन् अनुभव पर आधारित है। ज्ञानी तत्त्वद्रष्टाओं (Seers) ने अपने अनुभव में इस सत्य को देखा है। तमाम सिद्ध, योगी, संत, भक्त जनों ने इस सत्य को अनुभूत किया है। ऐसा भी नहीं है कि केवल प्राचीन काल में ही देखा गया है, नवीन काल में भी तत्त्वद्रष्टा जन हुए हैं और आज भी हैं। तत्त्वद्रष्टा पुरुषों को आध्यात्मिक वैज्ञानिक कहने में कोई अतिशंयोक्ति नहीं है। उनके अनुभव का लेखा–जोखा या अभिलेख (record) वेद–उपनिषद् (निगम) एवं तंत्र (आगम) में वर्तमान है। भगवद् गीता का ज्ञान भी आध्यात्मिक अनुभव पर ही आधारित है (''उभयोरपि दृष्टोऽन्तरस्त्वनयोः तत्त्वदर्शिभिः'')। कृष्ण, बुद्ध, महावीर, सुकरात, जरस्थुस्त्र, ईसामसीह, रामकृष्ण परमहंस, रमण महर्षि, श्री अरविन्द आदि के वचन इसे प्रमाणित करते हैं। यही लोग नहीं, तमाम संतों, भक्तों और योगियों ने अपने अनुभव से उसे प्रमाणित किया है। इन लोगों ने जीवन के सत्य को देखा है और उसके आधार पर सुखी एवं सफल जीवन जीने का मार्ग बताया है।

आधुनिक भौतिक विज्ञान की खोजें भी विश्व की (ब्रह्माण्ड की) एकता की ओर संकेत करती हैं। आधुनिक वैज्ञानिक लोग यह मानने की ओर उन्मुख हो रहे हैं कि सम्भवतः एक ही महाशक्ति से पूरे ब्रह्माण्ड (Cosmos) की रचना या सृष्टि हुई है; ब्रह्माण्ड के समस्त अवयव एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। तात्पर्य यह कि विज्ञान की खोजें भी अभेद दर्शन की ओर संकेत कर रही हैं। आत्मिक अद्वैत या अभेद दर्शन के अनुसार एक ही आत्मतत्त्व या परमात्मतत्त्व से सारे जीव–जगत की सृष्टि हुई है और

सारी सृष्टि में वही एक तत्त्व अनुस्यूत है और सबको एक में बाँधे हुए है। वह परमात्मतत्त्व हमारा ही बड़ा "मैं" या बड़ा आत्मा (Higher Self) है जो हमारा वास्तविक स्वरूप है जिसे अज्ञानवश न जानने के कारण हम भेदबुद्धि के शिकार हैं और बाकी सबको पराया समझते हैं।

इस दर्शन का मानवतावादी (Humanistic) सत्य यह है कि हम सभी एक हैं। मैं जो अपने से अलग लागों को दूसरा या पराया समझ रहा हूँ, वे वस्तुतः पराए नहीं हैं, उनके रूप में मैं ही हूँ या वे मेरे अपने ही हैं। हम जो दूसरों को दूसरा समझते हैं यह हमारा भ्रम है, हमारा अज्ञान है। इसलिए उपनिषद् में द्वैतबुद्धि (भेदबुद्धि) या द्वैतभाव को अज्ञान कहा गया है और अद्वैतभाव (अभेदभाव, एकत्वभाव) को ज्ञान कहा गया है। अज्ञान को अविद्या या माया भी कहते हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने अज्ञान (माया) की व्याख्या इन सरल शब्दों में दी है – "मैं अरु मोर तोंर तैं माया"; अर्थात् इस प्रकार का भेद करना कि "यह मैं हूँ और यह मेरा है" और "वह तुम हो और वह तुम्हारा है"–यह माया है। सत्य का ढँक जाना और उसके स्थान पर झूठ का दीखना इसी को माया कहते हैं। सत्य यह है कि सभी हमारे हैं, किन्तु इस सत्य की जगह हम इस झूठ को सही समझते हैं कि सब पराए हैं। इसीलिए हम जो समझते हैं वह भ्रम है, अज्ञान है, माया है।

एक दृष्टांत से इस भ्रम (अज्ञान) को समझा जा सकता है। बहुत पहले हमने एक सिनेमा–फिल्म देखी थी (संभवतः उस फिल्म का नाम 'वक्त' था, बलराज साहनी ने उसमें प्रमुख भूमिका निभाई थी)। फिल्म में दिखाया गया था कि लाहौर शहर का एक परिवार दैवी आपदावश बिखर गया और सभी जुदा–जुदा हो गए। बाद में संयोगवश वे सभी अलग–अलग ढंग से दूसरे शहर (संभवतः दिल्ली) में आ गए और बच्चे (जो आपस में भाई–भाई थे) एक दूसरे को न जानते हुए बड़े होने लगे। पिता मजदूर का काम करने लगा। संयोगवश भाई–भाई बड़ा होने पर किसी घटनाक्रम में एक जगह मिले लेकिन एक दूसरे को जानते नहीं थें और किसी कारणवश उनमें दुश्मनी हो गई और वे आपस में लड़ाई करने लगे। संयोगवश अन्जान पिता भी पहुँच गया और एक के खिलाफ गवाही देने को तैयार हो गया। यह सब इस कारण हुआ कि वे सब यह नहीं जानते थे कि सब एक ही परिवार के हैं, भाई–भाई हैं या पिता–पुत्र हैं। किन्तु जैसा सिनेमा

में होता है, ऐन मौके पर संयोगवश राज खुल गया और यह बात मालूम हो गई कि सब तो अपने ही हैं। फिर तो भाई–भाई (जो अब तक आपस में लड़ रहे थे) अश्रुपूरित नेत्रों से एक दूसरे को गले लग गये , पिता भी इस सत्य के उद्‌घाटन से गदगद् हो गया कि जिनकी वह खिलाफत कर रहा था वे तो उसके अपने ही पुत्र थे, फिर तो उसने रँधे गले और आँसू भरी आँखों से पुत्रों को छाती से लगा लिया।

कहना न होगा कि उक्त दृष्टान्त की तरह ही हम जिन लोगों को पराया समझते हैं वे वस्तुतः अपने ही हैं। जब यह समझ आ जाएगी कि वे अपने ही हैं तो कितना आनन्दआएगा, कितनी तृप्ति मिलेगी। फिर हम क्यों किसी से स्वार्थवश लड़ाई करेंगे, फिर तो हमारा कोई दुश्मन रह ही नहीं जाएगा। स्वामी रामतीर्थ कहते थे–''करूँ मैं दुश्मनी किससे, अगर दुश्मन भी हो मेरा''। जब तथाकथित दुश्मन भी मेरा ही है तो फिर दुश्मनी कैसी? फिर तो उसका हित भी मेरा ही हित है।

सबको अपना समझना (सर्वात्मभाव), किसी को पराया न समझना–इसको जीवनदर्शन या जीवन–मार्ग की दृष्टि से ज्ञानमार्ग कहा जाता है। इसको 'ज्ञान' कहना पूर्णतः तर्कसंगत है। जो वस्तु जैसी है उसे वैसी ही समझना ज्ञान है, और उसे दूसरी चीज समझ लेना भ्रम या अज्ञान है। सही समझने का नाम ज्ञान है। यहाँ, हम तथाकथित दूसरों को भी अपना ही समझते हैं तो सही समझते हैं क्योंकि वे वस्तुतः अपने ही हैं, पराए हैं ही नहीं। एकत्व ही सत्य है, और सत्य को उसी रूप में समझना ज्ञान है। सत्य तो यह है कि सभी अपने हैं, किन्तु उन्हें पराया मानना तो सत्य के विपरीत है; अतः परायापन की समझ भ्रम या अज्ञान है।

ज्ञान के मार्ग में तो सबको अपना समझना है ही, भक्ति के मार्ग में भी वही बात आती है। भक्ति में हम भगवान को प्रेम करते हैं, फिर यह संगत बात है कि जो भगवान के हैं उनको भी प्रेम करें। सारे बन्दे तो भगवान के ही हैं; साथ ही सबमें भगवान बसते हैं। भगवान को अपना समझेंगे तो भगवान के बच्चों को (बन्दों को) भी अपना समझेंगे ही। भक्त सबमें अपने भगवान को ही देखता है, फिर वह किसको पराया समझेगा और किससे शत्रुता करेगा? – ''निज प्रभुमय देखहिं जगत, केहि सन करहिं विरोध''। चूँकि सब भगवान के ही हैं अतः सबकी सेवा भगवान की

ही सेवा है। कहा गया है "नर की सेवा नारायण की सेवा है" या "मानव–सेवा माधव–सेवा है"। हम भगवान को अपना समझें और भगवान के बन्दों को अपना न समझें यह आत्मविरोधी बात है। तात्पर्य यह कि ज्ञान–मार्ग और भक्ति–मार्ग दोनों में ही सबको अपना समझना है, सबको प्यार करना है और सबकी सेवा करनी है।

●

मैत्रीभावना और सेवा : सारे विश्व की मानसिक सेवा

यह स्वाभाविक और तर्कसंगत बात है कि जो व्यक्ति सबको अपना समझेगा ("सर्वभूतात्मभूतात्मा") वह सबका कल्याण चाहेगा और सबका कल्याण करेगा ("सर्वभूतहिते रताः")। मन में प्रेम होगा तो प्रिय व्यक्ति की सेवा का भी भाव आएगा। सबके प्रति अपनत्व (प्रेम) आएगा तो सबके प्रति सेवा का भी भाव आएगा। किन्तु यहाँ समस्या उठेगी कि हममें भौतिक या शारीरिक रूप से सेवा करने की अनंत क्षमता तो है नहीं। हमारे पास पैसा–रुपया भी सीमित है, शरीर की शक्ति भी सीमित है और समय भी सीमित है। ऐसी अवस्था में हम कुछ की ही सेवा कर सकते हैं, सबकी सेवा नहीं कर सकते। हम सामान्यतया अपने परिवार की सेवा कर सकते हैं और क्षमता अधिक होने पर कुछ और लोगों की भी सेवा कर सकते हैं; फिर भी सारे विश्व की सेवा तो नहीं कर सकते। परन्तु मैत्रीभावना में तो हम सारे विश्व को अपना समझते हैं और सारे विश्व का कल्याण चाहते हैं; फिर प्रश्न है कि सारे विश्व की सेवा कैसे करें?

उक्त प्रश्न का उत्तर है कि यद्यपि हम पैसे–रुपए और शरीर से तो कुछ ही लोगों की सेवा कर सकते हैं (उदाहरण के लिए, अपने परिवार की), किन्तु हमारा मन सीमित नहीं है, हमारे मन की भावना तो असीम है। हम शरीर से (या धन से) नहीं किन्तु मन से तो सारे विश्व की सेवा बिना किसी बाधा के कर सकते हैं। मन से सेवा करने का तात्पर्य है मैत्रीभावना करना। मैत्रीभावना तो सबके प्रति की ही जा सकती है; मन से सबके प्रति मैत्रीभावना करने में कोई अवरोध, खर्च या थकान तो है नहीं, यह सबके लिए सुलभ भी है। मैत्रीभावना की सेवा चूँकि मन से ही की जाती है, अतः यह सेवा हम सारे विश्व की कर सकते हैं। बहुत से सन्त–महात्मा योगी–जन यही सेवा सारे विश्व की करते हैं; वे अपने एकान्त कमरे में या गुफा में बैठे हैं और बाहर से ऐसा दीखता है कि वे समाज की कोई सेवा नहीं करते हैं, किन्तु असलियत यह है कि वे बैठे–बैठे निरन्तर सबके कल्याण के लिए मैत्रीभावना एवं प्रार्थना करते रहते हैं। समाज में तमाम खराबियाँ होने के बावजूद ऐसे ही चन्द लागों के कारण समाज टिका रहता है।

यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि हम भौतिक रूप से सेवा न करें और केवल भावना (मैत्रीभावना) करते रहें तो इससे लोगों का क्या लाभ होगा, यह कौन सी सेवा होगी? इसके उत्तर में कहा जाएगा कि केवल मन से मैत्रीभावना करने मात्र से लोगों की दो प्रकार से सेवा होती है। पहली तो यह कि जिनके प्रति हम मैत्रीभावना का संप्रेषण करते हैं (संप्रेषित व्यक्ति) उनको हमारी भावना प्रभावित करती है, उनमें परिवर्तन लाती है और उन्हें भला बनाती है। आगे के प्रसंग में हम इस बात की विस्तृत चर्चा करेंगे कि कैसे हमारी भावना या विचार की तरंगे हमारे मस्तिष्क से निकलकर टी. वी. या रेडियों की तरंगों की भाँति पूरे वातावरण में फैलती है और संबंधित व्यक्ति (सम्प्रेषित व्यक्ति) को टी.वी. सेट या रेडियों सेट की भाँति प्रभावित करती हैं। यह प्रभाव कमजोर नहीं होता है। यदि गहन (intensive) रूप से मैत्रीभावना संप्रेषित की जाय ओर कई लोगों के द्वारा एक साथ की जाय तो इसका प्रभाव बड़ा तगड़ा होगा। हम "समवेत मैत्रीभावना" के प्रसंग में यह चर्चा कर चुके हैं कि वस्तु जितनी ही सूक्ष्म होती है वह उतनी ही शक्तिशाली होती है (चुम्बकीय शक्ति या विद्युत् शक्ति की भाँति), भले ही वह बाहर से देखने में दिखाई नहीं पड़ती है। मैत्रीभावना मानसिक शक्ति (sentient energy) है और काफी ताकतवर है। सामूहिक मैत्रीभावना की शक्ति समाज को, विश्व को, बदलने में सक्षम है।

केवल मन से मैत्रीभावना देकर हम जो लोगों की दूसरी महत्त्वपूर्ण सेवा करते हैं वह यह कि लोगों में जो प्रेम की भूख और प्रेम की महती आवश्यकता है उसकी हम पूर्ति करते हैं। मनुष्य (और मनुष्येतर सभी प्राणी) प्रेम पाकर तृप्त होते हैं, आनंदित होते हैं, क्योंकि प्रेम की भूख सब में है। कहा जाता है कि भगवान भी प्रेम का भूखा है, वह भक्तों का प्रेम पाकर तृप्त होता है। प्रेम पाने से केवल तृप्ति एवं आनन्द की प्राप्ति ही नहीं होती वरन् मानसिक (और शारीरिक भी) स्वास्थ्य में अभिवृद्धि होती है; साथ ही प्रेम पाना व्यक्तित्व के विकास में भी सहायक होता है। बच्चे को केवल दूध और परवरिश ही नहीं चाहिए वरन् उसे माँ-बाप का तथा अन्य लोगों का प्यार भी चाहिए। बच्चे का विकास केवल भोजन पाकर ही नहीं होता वरन् उसके व्यक्तित्व का समन्वित विकास प्यार पाकर होता है। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि जो बच्चे प्यार नहीं पाते उनका व्यक्तित्व कुंठित

रह जाता है, वे मानसिक रोगी या अपराधी हो जा सकते हैं। जिस परिवार, जिस समाज और जिस देश में प्रेम का अभाव है वह सुखी और समुन्नत नहीं हो सकता। अतः हम प्यार देकर लोगों की बहुत बड़ी आवश्यकता की पूर्ति करते हैं और उनकी बहुत बड़ी सेवा करते हैं।

बच्चे के विकास के लिए प्रेम की कितनी आवश्यकता है इस संदर्भ में लेखक के गुरु प्रो. लालजी राम शुक्ल जी द्वारा की जाने वाली मानसिक चिकित्सा में लाए गए एक छोटे बच्चे का उदाहरण उल्लेखनीय है। एक धनी परिवार का बच्चा शुक्ल जी के पास उपचार के लिए लाया गया। बच्चा असामान्य हरकतें करता था, तीव्र बुद्धि होने के बावजूद उसका समन्वित विकास नहीं हो रहा था। शुक्ल जी ने उसकी पारिवारिक स्थिति मालूम की तो पता चला कि बच्चे की देखभाल नौकर–नौकरानी करते हैं, बच्चे की माँ तो विदेश में रह रही है। शुक्ल जी ने राय दी कि माँ आकर स्वयं बच्चे की देखभाल करे, बच्चे को अपने पास सुलावे, स्वयं खिलावे एवं स्वयं उसका टट्टी–पेशाब धोए। ऐसा ही किया गया और बच्चा कुछ ही दिनों में पूर्ण स्वस्थ हो गया, स्कूल जाने लगा और विद्यालय की शिशु–कक्षाओं में अच्छी सफलता प्राप्त करने लगा। कहना न होगा कि माँ जब बच्चे की स्वयं परवरिश करती है तो उस सेवा में माँ का प्यार मिला होता है जो बच्चे के मानसिक विकास के लिए बहुत आवश्यक है। यह प्यार नौकर–नौकरानियों के द्वारा की गई सेवा में नहीं मिलता। (वैसे अपवाद स्वरूप ऐसी भी आया या नौकरानी देखी जाती हैं जो बच्चे को माँ की तरह ही प्यार करती हैं, वहाँ समस्या नहीं उठती, लेकिन वहाँ भी आया या नौकरानी की कुछ सीमाएँ होती हैं जिसकी आपूर्ति माँ से ही या परिवार की अन्य प्रेमी महिलाओं–दादी, बुंआ, चाची, आदि से ही हो सकती है।)

उपर्युक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि प्रेमविहीन सेवा कारगर नहीं होती है। दान (Charity) के द्वारा की गई सेवा लाभ नहीं पहुँचाती है, वरन् अधिकतर हानि ही करती है, क्योंकि दान लेने वाले की मनोवृत्ति दूषित हो जाती है, वह परोपजीवी और जाहिल होता है और उसकी आत्मशक्ति कुंठित हो जाती है। अंग्रेजी में कहावत है "दान लेने वाला बालक उन्नति नहीं करता" ("Charity boy seldom prospers")। जो गरीब और भीख माँगने वाले व्यक्ति दान पर ही जीवित रहते हैं वे गरीब और भिखमंगे ही

रह जाते हैं, उनकी आत्मशक्ति (जो उन्नति का कारक है) मर जाती है। विपत्ति के समय या दैवी आपदा पड़ने पर दी गई सहायता (दान), देश–काल और पात्र की उपयुक्तता का विचार कर दिया गया दान या समाज सेवी संस्थाओं (शिक्षा–संस्थाओं आदि) को दिया गया दान–यह सब दान की उक्त हानिकारक कोटि में नहीं आता, इस तरह का दान तो लाभप्रद होता है, किन्तु अपात्र को दिया गया दान (सहायता) तो उसका नुकसान ही करता है। इसीलिए उत्साह में आकर या दया भाव में आकर बिना विचारे दान नहीं करना चाहिए, हमेशा विवेकपूर्ण विचार करके ही किसी की सहायता या उसको दान करना चाहिए।

प्रेम विहीन सहायता या दान से केवल पाने वाले का ही नुकसान नहीं होता, दानदाता का भी नुकसान होता है। दानदाता को अहंकार हो सकता है। प्रेम अहंकार को गलाता है, और प्रेमविहीन दान से तो दाता को दान का अहंकार होना अधिक स्वाभाविक है। बहुत से दान–दाताओं को अहंकारी होते देखा गया है। पौराणिक कथाओं में यह आया है कि बलि, कर्ण आदि बड़े दानी थे, किन्तु उन्हें दान का अहंकार भी था जिसके कारण उन्हें दुःख भोगना पड़ा। तात्पर्य यह कि प्रेम विहीन सहायता या दान से लेने वाले और देने वाले दोनों का नुकसान होता है। विकसित देश जो विकासशील देशों की सहायता करते हैं उसमें भी यह बात देखी जा सकती है। यह बात स्पष्ट हो चुकी है (कई शोधार्थियों और आर्थिक विशेषज्ञों ने इसे दिखलाया है) कि मुफ्त सहायता लेने वाले देश उन्नति नहीं करते, उनका आर्थिक विकास रुक जाता है और उन देशों में भ्रष्टाचार को बढ़ावा मिलने लगता है (भारत, पाकिस्तान, बाँगला देश, अफ्रीका के कई देश इसके साक्षात् उदाहरण है।)। दूसरी ओर विकसित देशों में अहंकार का पारा चढ़ा रहता है, वे विकासशील देशों पर धौंस जमाते रहते हैं, थोड़ा भी उनके मन माफिक न होने पर वे विकासशील देशों पर अवरोध (Sanction) लगा देते हैं और अपनी सहायता रोक भी देते हैं; वे राजनीतिक 'माफिया' के रूप में दीखते हैं।

प्रेमविहीन सेवा या सहायता से होने वाले नुकसान को देखते हुए ही संतों ने यह उपदेश किया है कि सेवा प्रेम के साथ करो, सेवा करते समय यह न समझो कि जिसकी सेवा कर रहे हो उसका तुम उपकार कर रहे

हो, वरन् यह समझो कि वे तुम्हारी सेवा लेकर तुम्हारे ऊपर कृपा कर रहे हैं; तुम्हारा उपकार कर रहे हैं। रामकृष्ण परमहंस ने कहा है कि दीन–दुखियों की सेवा उन्हें दरिद्र या दीन समझकर न करो वरन् उन्हें नारायण (अर्थात् भगवान अर्थात् पूज्य) समझकर सेवा करो; दरिद्र के रूप में नारायण ही तुम्हारी सेवा ले रहे हैं और तुम्हें अपनी सेवा करने का अवसर प्रदान कर रहे हैं। रामकृष्ण, मिशन में 'दरिद्र' की नहीं वरन् ''दरिद्र–नारायण'' की सेवा की जाती है, 'नर' की नहीं वरन् ''नर–नारायण'' अर्थात् नर के रूप में नारायण (भगवान) की सेवा की जाती है। संतों ने कहा है कि जब किसी सत्पात्र को दान करो तो यह सोचकर न करो कि तुम उसकी सहायता कर रहे हो वरन् यह समझकर करो कि तुम्हारी कमाई में उसका हक है, उसका हिस्सा है, जिसे तुम लौटा रहे हो; यदि नहीं लौटाते हो तो तुम चोर हो, बेईमानी करते हो। देखने में यह शिक्षा अति आदर्शवादी लग सकती है, किन्तु वास्तविकता यह है कि यह सेवा करने वाले या दान करने वाले के स्वयं के हित के लिए कही गई है। संतो के इस कहे अनुसार ही सेवा करने पर करने वाले का कल्याण होता है, अन्यथा अहंकार के कारण उसका अहित होता है।

भौतिक सेवा (सहायता या दान) निरहंकार भाव से किया जाय तो उससे देने वाले का लाभ तो होगा किन्तु उससे लेने वाले को हमेशा लाभ ही हो यह आवश्यक नहीं है। उदाहरण के लिए हम किसी को पैसे से सहायता कर रहे हैं, अगर वह व्यक्ति शराबी और जुआड़ी है तो हमारी दी हुई सहायता राशि का शराब और जुआ में अपव्यय कर देगा, उसका अहित होगा। तात्पर्य यह कि भौतिक दान सदा सापेक्ष हितकारी (relative good) है, निरपेक्ष हितकारी (absolute good) नहीं है। निरपेक्ष रूप से हितकारी तो केवल मैत्रीभावना है; वह हर व्यक्ति के लिए और हर समय हितकारी है। प्रसिद्ध दार्शनिक कांट ने कहा है कि शुभ भावना या शुभेच्छा ही ऐसा शुभ है जो बिना किसी शर्त के शुभ है अर्थात् निरपेक्ष रूप में शुभ है ("Goodwill is the only good that is good without qualification") । शुभेच्छा का ही दूसरा नाम मैत्री भावना है। (ध्यान रहे कि कुछ लोग जो यह समझते हैं कि चोर के प्रति मैत्रीभावना तो उसके लिए अहितकर होगी अतः मैत्रीभावना भी सापेक्ष शुभ है, वे लोग मैत्रीभावना का यह गलत अर्थ

समझते हैं कि हम भावना करें कि चोर खूब चोरी करे और पकड़ा न जाय। हम पहले स्पष्ट कर चुके है कि चोर को चोरी करने देना मैत्रीभावना नहीं है। जिसमें व्यक्ति का वास्तविक कल्याण हो वही चाहना मैत्रीभावना है। यह विस्तारपूर्वक व्याख्यायित किया जा चुका है कि दण्ड देना भी मैत्रीभावना में शामिल है।)

अतः संसार का वास्तविक कल्याण और निरपेक्ष रूप से कल्याण केवल मैत्रीभावना से ही हो सकता है। ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि जिन भी कार्यों से संसार का कल्याण होता है वे कार्य मैत्रीभावना से युक्त होते हैं, अथवा यों कहिए कि कोई भी कार्य बिना मैत्रीभावना से युक्त हुए कल्याणकारी नहीं हो सकता। दुनियां की जितनी भी मीठी वस्तुएँ हैं (मिठाइयॉ, फल, मधु, शर्बत, ईख आदि) वे सब चीनी (Sugar) के ही कारण मीठी होती हैं। अगर किसी वस्तु में ''सुगर'' (चीनी) न हो तो वह मीठी नहीं होगी ('सैकरीन' इसका अपवाद है किन्तु इसे हम दृष्टान्त में नहीं लेंगे।)। इसी प्रकार कोई कार्य (मानसिक या शारीरिक) तभी शुभ होगा जब उसमें (चीनी की भाँति) मैत्रीभावना पड़ी हो। तात्पर्य यह है कि मैत्रीभावना सभी शुभों का आधारभूत है। मीठा स्वाद देने के लिए फल मिठाई आदि सभी वस्तुएँ परोसी जाती हैं और परोसी जानी चाहिए, किन्तु साथ ही यह समझते रहना चाहिए (और व्यवहार में लाते रहना चाहिए) कि उन वस्तुओं में मिठास तो चीनी के कारण है। इसी प्रकार समाज के लिए सभी तरह के हितकारी कार्य होते रहना चाहिए, किन्तु साथ ही इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वे कार्य हितकारी तभी होंगे जब उन्हें मैत्रीभावना के साथ किया जाय।

परिवार की सेवा एवं विश्व की सेवा में सामंजस्य

पीछे यह चर्चा की जा चुकी है कि भौतिक साधन सीमित होने के कारण हम पूरे विश्व की सेवा नहीं कर सकते, अपने परिवार की सेवा तक सीमित रह सकते हैं, और मानसिक सेवा सारे विश्व की कर सकते हैं जिसका अर्थ है मन से सारे विश्व को मैत्रीभावना देना। भौतिक सेवा के कर्तव्य क्षेत्र में प्रायः परिवार के लोग आते हैं या कुछ ऐसे लोग आते हैं जिनकी जिम्मेदारी हमारे ऊपर है। अपने बच्चों और बूढ़े माँ–बाप की जिम्मेदारी तो है ही। इनकी सेवा या पालन के लिए प्रकृति ने (या यों कहिए कि भगवान ने) हमें साधन दिए हैं या देते हैं। परिवार–पालन विषयक जीवन–दर्शन के रूप में संतों ने इस आध्यात्मिक सत्य को बताया है कि बच्चे और परिवार के अन्य आश्रित व्यक्ति भगवान के हैं और भगवान ने हमें उनका संरक्षक या 'गार्जियन' बनाया है (असली पालक तो भगवान है), और भगवान ने ही (या भगवान की बनाई प्रकृति ने) उनके लिए आवश्यक संसाधन जुटाए हैं। अतः इसी भाव से परिवार की सेवा करनी चाहिए कि परिवार भगवान का है और हम भगवान द्वारा नियुक्त उसके संरक्षक मात्र हैं। (भगवान में विश्वास न हो तब भी उक्त भाव से परिवार की सेवा की जा सकती है, अर्थात् अपना अहं हटाकर तटस्थ होकर कर्तव्य भाव और प्रेम भाव से परिवार की सेवा की जा सकती है)। परिवार को प्रेम देना भी भगवान (या भगवान की बनाई प्रकृति) की ओर से हमें दिया गया कर्तव्य कार्य (duty) हैं। प्रेम देना (मैत्रीभावना) तो सारे विश्व के लिए संभव (और आवश्यक) है, किन्तु भौतिक सेवा तो परिवार तक सीमित रह सकती है।

यहाँ दो प्रश्न उठ सकते हैं – (1) एक तो यह कि क्या परिवार के साथ–साथ समाज की भौतिक सेवा संभव नहीं है?, और (2) क्या हम भौतिक सेवा को अपने परिवार तक सीमित रखकर स्वार्थी नहीं हो जाएँगे और मैत्रीभावना से उसका विरोध नहीं होगा? हम बारी–बारी से इन दोनों प्रश्नों पर विचार करेंगे।

मन में सबके लिए मैत्रीभावना है तो सेवा तो सबकी ही करने की

इच्छा रहेगी, यदि हमारी आर्थिक क्षमता केवल परिवार भर की सेवा के लिए है तो हम परिवार तक ही सीमित रहेंगे। किन्तु यदि आर्थिक क्षमता परिवार की सेवा से अतिरिक्त भी है तब तो हम उसी के मुताबिक औरों की सेवा करेंगे, और करनी भी चाहिए। जिनके पास अधिक है उनका नैतिक और भावनात्मक (मैत्रीभावनात्मक) दोनों प्रकार का दायित्व है कि वे परिवार के अलावा समाज की भी सेवा करें। प्राचीन भारतीय मान्यता है कि हमारे ऊपर तीन ऋण (Debt) हैं – पितृऋण, ऋषिऋण और देवऋण। देवऋण के भीतर ही भूतऋण और लोकऋण आते हैं। इसका अर्थ है कि हमारे ऊपर समाज का ऋण है; अतः हमारी कमाई में समाज का और अन्य प्राणियों का भी हिस्सा है। लोकहित का ही कार्य करके देवऋण को उतारा जाता है जिसे यज्ञ कहते हैं। भोजन करते समय प्रतीक रूप में कुछ अंश अन्य प्राणियों के लिए निकाल देने (जिसे 'बलि' कहते हैं) की परम्परा है जिसे "बलिवैश्वदेव" कहते हैं; सभी प्राणियों के रूप में 'देव' या भगवान ही है जिसे इस रूप में सर्वव्यापक (Universal or Cosmic) होने के नाते 'विश्वदेव' कहते हैं; "विश्वदेव" के लिए (अर्थात् प्राणियों के लिए) दी गई 'बलि' (त्याग या यज्ञ) को "बलिवैश्वदेव" कहते हैं। जो काम अपने लिए किया जाता है वह कर्म है और जो काम दूसरों के लिए (लोकहित के लिए) किया जाता है उसे "यज्ञ" कहा गया है। (भगवान अपने लिए अलग से कोई सेवा नहीं चाहता, उसके प्राणियों की सेवा ही उसकी सेवा है; अतः भगवान के लिए किया गया कार्य' और "लोक के लिए किया गया कार्य" – यज्ञ के ये दोनों अर्थ वस्तुतः एक ही है। 'यज्ञ' करना अर्थात् लोकहित का काम करना कर्तव्य माना गया है जो नैतिक कर्तव्य भी है और प्रेम (मैत्री भावना) का कर्तव्य भी है।)

भारतीय परम्परा में ऐसा माना गया है कि अपनी कमाई का दशवाँ हिस्सा लोकहित के लिए (अर्थात् पारिभाषिक अर्थ में 'यज्ञ' के लिए) निकाल देना चाहिए', वह लोक (समाज) का हिस्सा है, उसे लौटाना कर्तव्य है। ऐसा कहा गया है कि जो लोक का हिस्सा नहीं देता (नहीं लौटाता) वह चोर है और दण्ड का भागी है ("सस्तेनो दण्डमर्हति")। गीता में भी कहा गया है – "यज्ञ से बचा हुआ खाने वाले अर्थात् दूसरों को खिलाकर खाने वाले सज्जन लोग सभी पापों से मुक्त हो जाते हैं,

किन्तु जो लोग केवल अपने लिए पकाते और खाते हैं, वे पाप खाते हैं''–

''यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः।
भुन्ज्जते ते त्वधं पापाः ये पचन्त्यात्मकारणात्।।''

अपनी कमाई में से लोक का हिस्सा निकाल देना चाहिए, समाज का ऋण चुकाना चाहिए, यह बात इसलिए नहीं कही गई है कि ऐसा करना आदर्श है और इसलिए कोई फायदा न होने पर भी करना चाहिए, बल्कि इसलिए कही गई है कि ऐसा न करने पर हमारा नुकसान होता है, भले ही प्रत्यक्ष रूप में वह नुकसान या हानि न दिखाई दे। अदूरदर्शी और स्वार्थी आदमी को यह हानि नहीं दिखाई देती किन्तु हानि तो होती है। जो लोग चोरी बेईमानी करके स्वार्थी भाव से अपने और अपने बच्चों के लिए धन बटोरते हैं और दूसरों का (समाज का) हिस्सा नहीं देते, बाद में उन्हीं के बच्चे उन्हें अपमानित और प्रताड़ित करते हैं; बच्चों से दुःख पाने के अतिरिक्त वे अन्य प्रकार से भी दुःख पाते हैं। ऐसे लोगों को मन से सुखी होते नहीं देखा गया है, भले ही उनके पास वैभव बहुत हो। ऐसे पिता स्वयं स्वार्थी और असंस्कृत होने के कारण अपने बच्चों को निःस्वार्थ और सुसंस्कृत नहीं बना पाते। पिता द्वारा अर्जित और निर्मित आर्थिक साम्राज्य अनके स्वार्थी और संस्कारहीन पुत्र नष्ट कर देते है। राजनीतिक राज्य तो उत्तराधिकारियों के अनैतिक और कमजोर होने पर दूसरों के द्वारा (अन्य शासकों या राजाओं के द्वारा) हड़प लिये जाते हैं, किन्तु आर्थिक राज्य तो अपने ही उत्तराधिकारियों द्वारा नष्ट होते देखे जाते हैं।

'अपरिग्रह' का जो सिद्धान्त भारतीय परम्परा में दिया गया है उसके पीछे आदर्शवादिता नहीं है वरन् सुखी जीवन जीने का रहस्य है। अपरिग्रह का अर्थ ''अधिक धन नहीं बटोरना'' नहीं है वरन् इसका अर्थ ''अपनी आवश्यकता से अधिक धन को लोकहित के लिए दे देना'' है। यह कहा गया है कि धन का उपार्जन तो खूब करना चाहिए, अपने को ''अजर और अमर मानकर विद्या और अर्थ का चिन्तन करना चाहिए'' (''अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत्'') किन्तु साथ ही ''मृत्यु हमारे केश पकड़े हुए है यह मानकर धर्म का आचरण करना चाहिए'' (''गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्'')। कहना न होगा कि धर्म के आचरण का अर्थ है नैतिक और लोकहित के कर्तव्य। तात्पर्य यह कि 'धन संग्रह' तो होना ही चाहिए किन्तु

साथ ही 'लोक–संग्रह' (लोकहित) भी होना चाहिए। यही 'अपरिग्रह' का अर्थ समझना चाहिए। संभवतः इसी अर्थ में कबीर ने कहा है– ''नाव में पानी बढ़े और घर में पैसा बढ़े तो दोनों हाथ से उलीचना चाहिए, यही बुद्धिमता का काम है''–

''पानी बाढ़े नाव में घर में बाढ़े दाम।
दोऊ हाथ उलीचिए, यहीं सयानो काम।।''

यह ''बुद्धिमता का काम'' इसलिए है कि ऐसा न करने पर नाव डूब जाएगी, घर उस पैसे से ध्वस्त हो जाएगा। ''दोऊ हाथ उलीचिए'' का अर्थ यह भी नहीं समझना चाहिए कि अनावश्यक रूप से और अपात्र पर धन लुटाते जाना चाहिए, वरन् इसका अर्थ यह समझना चाहिए कि आवश्यकता से अधिक होने पर उसे लोकहित में खर्च करना चाहिए, स्वार्थी और कृपण भाव से अपने ही पास दबोच कर नहीं रखना चाहिए।

(धन की) ''आवश्यकता'' भी कितनी समझी जाय यह तो परिस्थिति–सापेक्ष है, किन्तु फिर भी मोटे तौर पर आवश्यक और अनावश्यक में विवेकसंगत भेद किया जा सकता है, ''नीड'' (Need)-आवश्यकता और ''ग्रीड'' (Greed-लालच) में भेद है। तीन शब्द है'' – आवश्यकता (necessity), आराम (Comfort) और विलास (luxury)। भोजन, कपड़ा,मकान आदि 'आवश्यकता' में आते हैं, इसीलिए ये ''नीड'' में आएँगे। आरामपूर्वक जीवन बीते (Comfort), भौतिक सुविधाओं के साथ जीवन–यापन हो–यह भी ''नीड'' में आएगा। किन्तु अनावश्यक विलास (luxury) तो ''ग्रीड'' में ही आएगा। केवल वस्तुओं के लोभ में अनावश्यक वस्तुएँ इकट्ठा करना या अहंकारपूर्ण दिखावे के लिए धन चाहना भी 'ग्रीड' में ही आएगा। आवश्यकता (necessity or need) की आपूर्ति तो सीमित साधनों में हो जा सकती है, किन्तु लोभ (greed) तो असीम होता है। कहा गया है –

''तन की भूख तनीक है, तीन पाव या सेर।
मन की भूख अनन्त है, लीले जात सुमेर।।''

अर्थात् शरीर की भूख तो थोड़े में ही तृप्त हो जाएगी, किन्तु मन की भूख तो असीम है, वह पहाड़ ('सुमेरु' पर्वत) निगलते जाने पर भी तृप्त नहीं होती। बहुत से धनी लोगों के पास अकूत धन है, फिर भी वे धन बढ़ाने

के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। वे धन आवश्यकता के लिए नहीं कमाते (उनके पास आवश्यकता से तो हजारों गुना अधिक होता है), वे तो धन के लिए धन कमाते हैं। धन कमाना अच्छी बात है किन्तु बहुत से धनलकुबेर लोग यह भूल जाते हैं कि धन अपने आप में साध्य नहीं है वरन् साधन है। अतः वे 'नीड' के कारण नहीं वरन् 'ग्रीड' के कारण धन के पीछे पड़े रहते हैं।

तात्पर्य यह कि यदि हमारे पास आवश्यकता से अधिक धन है तो उससे भौतिक रूप से भी समाज की सेवा करना लाजिमी है, केवल मन से मैत्रीभावना देने तक सीमित रहना उचित नहीं है। यदि धनी व्यक्ति के मन में मैत्रीभावना होगी तो वह अपने आप स्वाभाविक रूप से लोकहित में धन खर्च करेगा। धनी व्यक्ति के लिए भी मैत्रीभावना का अभ्यास करना आवश्यक है। यह सभी जानते हैं कि धनी होने मात्र से कोई सुखी नहीं हो जाता। यदि केवल धन ही सुख दे देता तो सभी धनी लोग बहुत सुखी होते, लेकिन ऐसा है नहीं। जितना गरीब दुःखी है उतना धनी भी दुःखी है, शायद ज्यादा दुःखी है। सुखी होने के लिए धन के अलावा कुछ और चाहिए; उसी 'और' में मैत्रीभावना का अभ्यास है। मैत्रीभावना करने से धनी व्यक्ति स्वयं में सुखी होगा और स्वाभाविक रूप से बिना किसी कष्ट के प्रसन्नतापूर्वक लोकहित के लिए धन भी खर्च करेगा–उस धन में से जो उसकी आवश्यकता से अधिक है।

पहले का धनी वर्ग (जिसमें मुख्यतः व्यापारी सेठ लोग होते थे) ऐसा ही करता था। यहाँ एक बात समझने की है कि ''सेठ'' शब्द ''श्रेष्ठ'' का ही अपभ्रंश है। पहले के अधिकांश व्यापारी धर्मभीरू और धर्मपरायण होते थे, वे शोषण नहीं करते थे और उनके मन में समाज के लिए मैत्रीभावना होती थी। इसीलिए वे पैसे से गरीबों की सहायता करते थे, आज के कतिपय सेठों की तरह लोगों को चूसते नहीं थे। समाज हित के कल्याण–कार्य प्रायः वे ही लोग कराते थे–जैसे कुएँ, बावली खुदवाना, धर्मशालाएँ बनवाना, पाठशालाएँ, अन्न क्षेत्र आदि चलाना। दैवी आपदा पड़ने पर वे अपना धन लेकर सहायता के लिए उतर जाते थे। इन्हीं सब कारणों से वे लोग ''श्रेष्ठ'' या ''श्रेष्ठी'' कहलाते थे, जिसका अपभ्रंश शब्द 'सेठ' है। बनिया लोग 'साहु जी' भी कहलाते हैं। 'साहु' शब्द ''साधु'' का

अपभ्रंश है, साहु (साधु) और चोर विपरीत शब्द है। पहले का बनिया ईमानदार और नेकनीयती वाला होता था, इसीलिए 'साधु' (जिसका अपभ्रंश 'साहु' है) कहलाता था। प्राचीन गाथाओं में तमाम बनियों की कथाएँ आई हैं जो बनिये बहुत ही भक्त और सदाचरण वाले होते थे (आज के अधिकांश नवकर्मी बनियों की तरह नहीं;)। ('बनिया' शब्द से हमारा तात्पर्य उन सभी लोगों से है जो व्यापार द्वारा धनार्जन करते हैं।) पहले के बनियों (सेठों) पर लोग विश्वास और भरोसा करते थे। सौ साल पहले जब बैंक नहीं होते थे, गाँव के लोग अपना पैसा गाँव या कसबे के सेठ के पास जमा रखते थे।

तात्पर्य यह कि पहले के सेठ लोग इसीलिए 'सेठ' ("श्रेष्ठ" या श्रेष्ठी) कहलाते थे कि उनमें मैत्रीभावना होती थी और वे अपने पैसे का विनियोग लोकहित में करते थे। आज भी ऐसा हो सकता है और होना चाहिए। संभवतः इसी संभावना को देखकर गाँधी जी ने "ट्रस्टीशिप" (Trusteeship) का सिद्धान्त दिया था। उनका मत था कि धनी लोगों को समाज का संरक्षक (ट्रस्टी–Trustee) होना चाहिए; यह उनका नैतिक और आध्यात्मिक कर्तव्य है और यह उनके स्वयं के हित और सुख के लिए आवश्यक है। आज का अधिकांश धनी व्यापारी वर्ग पैसे वाला तो है लेकिन वह अन्दर से सुखी और तृप्त हो यह आवश्यक नहीं है। वही धनिक सुखी है जिसके मन में मैत्रीभावना है।

सबके लिए मैत्रीभावना करना किन्तु भौतिक सेवा को अपने परिवार तक ही सीमित रखना इस संदर्भ में जो प्रश्न उठा था कि क्या इन दोनों बातों में विरोध नहीं है और क्या हम स्वार्थी नहीं कहलाएँगे, इस विषय में चर्चा करें। इसके उत्तर में हम एक दृष्टान्त देना चाहेंगे–विश्वविद्यालय और उसके विभिन्न विभागों का दृष्टान्त। विश्वविद्यालयों में अनेक विभाग होते हैं। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में सौ से ऊपर विभाग हैं। प्रत्येक विभाग का अध्यक्ष (Head) होता है। विभाग का अध्यक्ष अपने विभाग की चिन्ता करता है, विभाग के हित के लिए नियमानुसार कार्य करता है। किन्तु उसकी भावना अपने विभाग तक ही सीमित नहीं होती, वह समूचे विश्वविद्यालय को अपना समझता है और समूचे विश्वविद्यालय का हित चाहता है। परन्तु उसका अधिकारक्षेत्र और प्रभावक्षेत्र तो उसके विभाग

तक सीमित है, उसे विभाग के लिए जो पैसा और संसाधन मिलता है वह तो केवल उसके विभाग के लिए ही होता है, उसे वह दूसरे विभागों के लिए नहीं खर्च कर सकता या लगा सकता। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह दूसरे विभागों को अपना नहीं समझता या उन्हें प्यार नहीं करता (लेखक भी एक विभाग – दर्शन विभाग का अध्यक्ष रहा है और भौतिक रूप से केवल विभाग का ही काम करते हुए भी उसके मन में सारे विश्वविद्यालय के प्रति अपनत्व और मैत्री का भाव रहा है।) इन दोनों बातों में, अर्थात् सारे विश्वविद्यालय के प्रति मैत्रीभावना रखने और भौतिक सेवा केवल अपने विभाग की करने में, कोई विरोध नहीं है।

यही बात परिवार के प्रति संबंध और समाज या विश्व के प्रति संबंध पर भी लागू होगी। हम मैत्रीभावना तो सारे विश्व के प्रति कर सकते हैं, किन्तु भौतिक क्षमता की सीमा होने के कारण भौतिक सेवा तो केवल परिवार तक ही सीमित रख सकते हैं (हाँ, यदि क्षमता अधिक हो तो परिवार के अतिरिक्त समाज की भी सेवा हो सकती है, और करनी भी चाहिए, जैसा कि ऊपर हम विवेचन कर चुके हैं।) परिवार पालने तक ही अगर हमारी क्षमता है तो वहीं तक सीमित रखने में कोई दोष नहीं, हमारे लिए प्रकृति ने (या भगवान ने) उतनी ही 'ड्यूटी' (duty) दी है। किन्तु वहीं तक सेवा सीमित होने से ऐसा तो नहीं है कि हम मन से प्यार बाकी लोगों को नहीं कर सकते या सारे विश्व को मैत्रीभावना नहीं दे सकते । अतः हम स्वार्थी नहीं कहे जाएँगे। स्वार्थी तो तब कहे जाएँगे जब मन में मैत्रीभावना भी केवल परिवार के प्रति ही हो बाकी लोगों के प्रति नहीं। कभी–कभी तो ऐसा भी होता है कि कोई व्यक्ति अक्षम है, वृद्ध है या विकलांग है, वह परिवार के प्रति प्रेम रखते हुए भी सेवाकार्य के रूप में कुछ नहीं कर पाता, अपने प्रिय व्यक्ति का हित चाहते हुए भी, उसको प्यार करते हुए भी, उसके लिए कुछ कर पाने में असमर्थ रहता है। क्या उसे स्वार्थी कहेंगें? जितना हम कर सकते हैं उतना ही तो करेंगे। मन से हम सबका हित सोच सकते हैं (मैत्रीभावना), किन्तु शरीर से (और पैसे से) तो सबकी सेवा नहीं कर सकते हैं। जो मन से स्वार्थी और कृपण है उसी को वस्तुतः स्वार्थी और कृपण कहा जाएगा।

●

मैत्रीभावना के अभ्यास की समय–व्यवस्था
(Time Management)

यह तो स्पष्ट ही है कि प्रत्येक व्यक्ति के पास रोज चौबीस घण्टे का ही समय होता है, किसी के पास पचीस घण्टे नहीं होते। इसका निहितार्थ यह है कि इन्हीं चौबीस घण्टों में हमें सारे आवश्यक कार्य निष्पादित करने होते हैं। जीवन के लिए विश्राम करना (सोना) आवश्यक है, जिसमें लगभग एक तिहाई समय लग जाता है। जीने के लिए भोजन करना एवं नित्यकर्म (शौचादि) भी आवश्यक है, इसमें भी कुछ समय लग जाता है। जीविकोपार्जन भी आवश्यक है, उसमें भी समय का बहुत बड़ा भाग लग जाता है। ये सभी कार्य जीने के लिए आवश्यक हैं और इनमें समय लगना ही है। इससे जो समय बचता है उसे ही हम अन्य कार्यों में खर्च करते हैं।

जब हम कहते हैं कि ''हमारे पास समय नहीं है'' अथवा ''उसके पास अधिक समय है'' तो क्या इसका अर्थ यह है कि हमारे पास चौबीस घण्टे से कम समय है और उसके पास चौबीस घण्टे से ज्यादा समय है? हमारे ऐसा कहने का अर्थ केवल इतना ही होता है कि हमारे कार्यों की जो प्राथमिकताएँ (priorities) हैं उनमें अमुक कार्य नहीं आता। ''हमारे पास समय नहीं है'' का अर्थ है कि ''अमुक कार्य के लिए हमारे पास समय नहीं है'' अर्थात् अमुक कार्य हमारी प्राथमिकता (priority) में नहीं है। तात्पर्य यह कि समय की व्यवस्था (Time management) वस्तुतः प्राथमिकताओं (priorities) की ही व्यवस्था है।

विचार करके देखें तो समय–व्यवस्था (Time management) अर्थात् प्राथमिकताओं की व्यवस्था जीवन का अत्यंत महत्त्वपूर्ण पहलू है। जिसकी अवहेलना करने पर हम अपार और अपूरणीय क्षति से ग्रस्त हो जाते हैं। समय–व्यवस्था (Time-management) का मंत्र (formulae) है –''पहली चीज पहले'' ("first thing first") । इसका निहितार्थ यह है कि जो वस्तु (कार्य) हमारे लिए सबसे अधिक आवश्यक है यदि उसे न करके हम अन्य अनावश्यक कार्यों में समय देते हैं तो यह आवश्यक कार्य छूट जाता है

और परिणाम–स्वरूप हमारा बहुत बड़ा अहित हो जाता है। अतः आवश्यक कार्यों को पहले कर लिया जाय, अनावश्यक कार्यों को प्राथमिकता (priority) न दी जाय।

अब प्रश्न यह है कि जीवन के लिए अति आवश्यक क्या क्या है? मैत्रीभावना से होने वाले लाभ और उसके अभाव में होने वाली हानि पर कुछ चर्चा हो चुकी है और उसकी विस्तृत चर्चा आगे होगी। उसे ध्यान में रखते हुए यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि मैत्रीभावना जीवन के लिए अति आवश्यक वस्तु है, संभवतः सबसे अधिक आवश्यक है। बिना मैत्रीभावना (प्रेम) का अभ्यास किए हमारी चेतना का विकास नहीं हो सकता, और बिना चेतना का समुचित विकास हुए हम वह नहीं पा सकते जिसे हम पाना चाहते हैं, हम जीवन में सफल नहीं हो सकते। हम मानसिक शक्ति चाहते हैं, आनन्द चाहते हैं, मानसिक स्वास्थ्य और जीवन में सुख–शान्ति चाहते हैं, जीवन सफल और सुफल हो ऐसा चाहते हैं। इसी सबको पाने के लिए तो मैत्रीभावना का अभ्यास है। एक वाक्य में कहें कि हम अपने इच्छित प्राप्तव्यों को बिना मैत्रीभावना के नहीं पा सकते। अतः मैत्रीभावना हमारे जीवन की प्रथम प्राथमिकता (First priority) है।

समय–व्यवस्था (Time management) की दृष्टि से कुछ कार्य ऐसे आ जाते हैं जिन पर तत्काल (urgent) ध्यान देने की आवश्यकता होती है। जैसे कोई गंभीर रूप से बीमार पड़ गया तो उसे तत्काल अस्पताल ले जाने की जरूरत होती है। किन्तु कुछ ऐसे कार्य हैं जो होते तो आवश्यक (Important) हैं और उनका लाभ स्थायी और दूरगामी होता है, लेकिन वे तात्कालिक रूप से आवश्यक (urgent) नहीं दिखाई पड़ते, उन्हें कल के लिए या बाद के लिए टाला जा सकता है और हम उन्हें कल के लिए टाल देते हैं। जो कार्य अतिआवश्यक हैं और जिन्हें प्राथमिकता देनी चाहिए, उन्हें तात्कालिक रूप से आवश्यक (urgent) न होने के कारण यदि हम टालते रहते हैं तो इसके परिणामस्वरूप एक दिन ऐसी समस्या आ खड़ी होती है जो तात्कालिक (urgent) हो जाती है और सब कुछ छोड़कर (अन्य आवश्यक कार्यों का नुकसान कर) उसे देखना पड़ता है। उदाहरण के लिए, स्वस्थ रहने के लिए यह आवश्यक है कि हम स्वास्थ्य के नियमों का पालन करें, समुचित व्यायाम करें, उचित भोजन ही लें; आवश्यक विश्राम

न छोड़े, सीमा से अधिक श्रम न करें, आदि आदि। किन्तु तात्कालिक रूप से आवश्यक (urgent) न होने के कारण हम इनकी अवहेलना करते हैं और परिणामस्वरूप एक दिन हम गंभीर बीमारी से ग्रसित हो जाते हैं, जो अब हमारे लिए 'अर्जेण्ट' हो जाती है। "अर्जेण्ट" न दीखने वाले 'आवश्यक' (Important) को हम टालते रहते हैं तो एक दिन वह 'अर्जेण्ट' बनकर सामने आ खड़ा होता है, किन्तु तब तक बहुत देर हो चुकी रहती है, और उसका समाधान अत्यंत कठिन होता हैं। अतः चौबीस घण्टों में से कुछ समय मैत्रीभावना के अभ्यास के लिए अवश्य निकाल लेना चाहिए। यदि दिन में समय एकदम नहीं मिल पाता है तो रात्रि में सोने के लिए बिस्तर पर जाते हैं तो बिस्तर पर ही बैठकर या लेटकर मैत्रीभावना करनी चाहिए। यदि बिस्तर पर जाते ही नींद आ जाती है तो नींद से उठने के बाद सबेरे बिस्तर पर ही कर लेना चाहिए। यदि पूजा करते हों तो मैत्रीभावना को पूजा में शामिल कर लेना चाहिए। मैत्रीभावना भी तो भगवान की पूजा ही है, शायद सबसे बड़ी पूजा है। ऐसा बहुत सा समय आता है जब हमारा मन खाली रहता है, उदाहरण के लिए, बस, ट्रेन या हवाई जहाज में यात्रा करते समय, किसी हेतु प्रतीक्षा में बैठे रहते समय, टहलते समय, आदि। इस खाली समय का उपयोग मैत्रीभावना के अभ्यास में करना चाहिए। यदि यह सब कुछ भी न हो तो अपनी रोजमर्रा के किसी कम आवश्यक काम में थोड़ी कटौती करके मैत्रीभावना का अभ्यास करना चाहिए।

प्रेम (मैत्री) का वांछित अर्थ

यह तो स्पष्ट है कि मैत्रीभावना के अभ्यास में हम जिस भावना का अभ्यास करते हैं वह वस्तुतः प्रेम–भावना ही है। अतः यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यहाँ प्रेम शब्द का वांछित अर्थ क्या है। यह स्पष्ट कर देना और भी अधिक आवश्यक हो जाता है, क्योंकि सामान्य भाषा में प्रेम शब्द का प्रयोग कई अर्थों में होता है जो सभी अर्थ यहाँ वांछित नहीं है। बौद्ध परम्परा में प्रेम के लिए विशेष रूप से मैत्री (मेत्ता) शब्द का ही प्रयोग हुआ है; किन्तु वहाँ प्रेम के ही पर्याय 'प्रीति' शब्द का भी प्रयोग हुआ है। ''पीतिभक्खा'' शब्द का प्रयोग बहुत हुआ है। प्रीति को पाली में ''पीति'' कहते हैं और भक्षक को ''भक्खा'' कहते हैं, ''पीतिभक्खा'' का अर्थ है प्रीति खाने वाला अर्थात् प्रेम ही जिसका भोजन है। बोधिसत्त्व यान (महायान) का साधक सारे संसार को प्यार करता है, सबका कल्याण चाहता है; प्रेम उसका भोजन है जिसे खाकर उसकी चेतना तृप्त एवं पुष्ट होती है। इसीलिए यह कहना हुआ कि वह ''पीतिभक्खा' है, प्रीतिभोजक है। यह 'प्रीति' या 'प्रेम' या 'मैत्री' क्या है?

प्रेम शब्द का अर्थ समझने में आसानी होगी यदि उसे उसके विपरीत अर्थ वाले शब्द को ध्यान में रख कर समझा जाए। प्रेम का विपरीत भाव है स्वार्थ। स्वार्थ–भाव में हम केवल अपने को ही अपना समझते हैं और फलतः केवल अपना ही हित चाहते हैं, दूसरों का हित नहीं चाहते क्योंकि उन्हें पराया समझते हैं। स्वार्थ की अनैतिक परिणति तब होती है जब हम दूसरों को अपने सुख के साधन के रूप में लेते हैं। उस स्थिति में हमारा सुख (या हित) साध्य (end) होता है और दूसरों का हम अपने सुख के केवल साधन (means) के रूप में उपयोग करते हैं। इसे ही दूसरों का शोषण करना भी कहते हैं। प्रेम में इसके विपरीत होता है। प्रेम में हम दूसरे के हित को भी साध्य मानते हैं, दूसरे को केवल साधन नहीं मानते। प्रिय व्यक्ति के लिए प्रिय व्यक्ति का हित चाहते हैं, अपने लिए नहीं। (यह अलग बात है कि प्रेम में हमारा हित भी अपने आप होता है, किन्तु हम स्वयं प्रिय व्यक्ति का हित उस व्यक्ति के लिए ही चाहते हैं, अपने लिए

नहीं।) इसका पूरक भाव है कि हम प्रिय व्यक्ति को भी अपना ही समझते हैं, पराया नहीं समझते, और प्रिय व्यक्ति के सुख में सुखी होते हैं। स्वार्थ में ऐसा नहीं होता। प्रेम देने का नाम है, स्वार्थ लेने का नाम है। (यह अलग बात है कि इस देने में परिपूर्णता होती है, तृप्ति होती है)। स्वार्थ में हम संकुचित होते हैं, प्रेम में हम विस्तृत होते हैं। प्रेम में अपनत्व होता है, स्वार्थ में परत्व होता है।

प्रेम की परिभाषा में मुख्यतः दो बिन्दु हैं जिनमें परस्पर तार्किक (Logical) सम्बन्ध है। (1) पहला बिन्दु है कि जिसे हम प्रेम करते हैं उसे अपना ही समझते हैं, पराया नहीं। फलतः हम प्रिय व्यक्ति के सुख को अपना सुख और उसके दुःख को अपना दुःख मानते हैं। माता अपने बच्चे को अपना मानती है, इसलिए बच्चे के सुख को माता अपना सुख मानती है और बच्चे के दुःख को अपना दुःख मानती है। प्रेम एकत्व (Unity) की अनुभूति है। (2) प्रेम की परिभाषा का दूसरा बिन्दु है कि हम प्रिय व्यक्ति का हित चाहते हैं, वह भी प्रिय व्यक्ति के लिए, अपने लिए नहीं। यदि हम दूसरे का हित इसलिए चाहते हैं कि वह फिर हमारा हित करेगा तो यह स्वार्थ ही हुआ, प्रेम नहीं। प्रेम तो तब हुआ जब हम निःस्वार्थ भाव से दूसरे का हित चाहते हैं। (गलतफहमी न हो इसके लिए यहाँ पुनः इस बात की ओर संकेत कर देना आवश्यक है कि देखने में लगता है कि यह तो परम त्याग की एवं असंभव आदर्श की बात कही जा रही है, किन्तु वास्तविकता यह है कि निःस्वार्थ प्रेम परम प्राप्ति की एवं परम तृप्ति की स्थिति है। इसकी व्याख्या अन्यत्र प्रसंग में की जाएगीं)।

प्रेम की परिभाषा के इन दोनों बिन्दुओं (अर्थात् दूसरे को अपना समझना और उसका कल्याण चाहना) में तार्किक संबंध है। जब हम किसी को अपना समझेंगे तो स्वाभाविक है कि उसका हित चाहेंगे क्योंकि उसके हित को अपना ही हित समझेंगे। माता अपने बच्चे का हित चाहती है क्योंकि उसे अपना ही समझती है। हम किसी का अहित तभी करते हैं जब समझतें हैं कि वह पराया है। हम अपने बच्चे का अहित नहीं चाहते, वरन हित चाहते और करते हैं, क्योंकि वह अपना ही है पराया नहीं। यह बात अलग है कि कुछ पिता अपने बच्चों का भी शोषण करते पाए जाते हैं। वहाँ वास्तविक्ता यह होती है कि ऐसे पिता बच्चों को प्रेम करते ही नहीं, वे अपने

बच्चों के प्रति भी स्वार्थ–भाव में ही रहते हैं। असली मतलब रक्त सम्बन्ध से अपना होने की नहीं वरन् भावना में अपना समझने से है। परम स्वार्थी व्यक्ति अपनों (रक्त संबंध से अपनों) को भी अपना नहीं समझता और ऐसी स्थिति में अपने लोगों में भी मार–काट की स्थिति देखी जाती है। इसके विपरीत प्रेमी व्यक्ति दूसरे को भी अपना बनालेता है और उसका हित चाहने और करने लगता है। जो वास्तविक संत लोग हैं (चाहे वे सन्यासी हों अथवा गृहस्थ हों) वे सबको ही अपना समझते हैं, उनके लिए कोई पराया नहीं होता, केवल तथाकथित पराया (so called other) होता है। गीता में भी कहा है कि ऐसे लोग ''सभी प्राणियों को अपना समझते हैं'' (''सर्वभूतात्मभूतात्मा'') और फलतः ''सबके हित में लगे रहते हैं'' (''सर्वभूतहिते रताः'')। तात्पर्य यह कि किसी को अपना समझने और उसका हित चाहने में स्वाभाविक संबंध है। उपर्युक्त विवेचन के बाद यह समझना आसान है कि 'प्रेम' और 'मैत्री' ये दोनों शब्द पर्यायवाची हैं। मित्र का भाव मैत्री कहलाता है। मित्र और शत्रु परस्पर विरोधी अर्थ वाले शब्द हैं। जो हमारा हित चाहता है वह मित्र है, और जो हमारा अहित चाहता है वह शत्रु है। हित चाहना ही तो प्रेम है। अतः प्रेम और मैत्री (मित्र का भाव) ये दोनों शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं। ''मित्र की आँखों से मैं सभी प्राणियों को देखूँ''। (''मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वभूतानि समीक्षे'') इस वैदिक प्रार्थना का अर्थ हुआ ''प्रेम की आँखों से सभी प्राणियों को देखूँ''। प्रेम शब्द का प्रयोग कभी–कभी आसक्ति या मोह या राग (अनुराग) के अर्थ में भी कर दिया जाता है, शायद इसी गलतफहमी से बचने के लिए मैत्री शब्द का प्रयोग ही अधिक वांछित है। 'मैत्री' शब्द में प्रेम का पूर्ण विवेकसंगत (rational) अर्थ आ जाता है।

प्रेम के स्वरूप में एक तीसरा बिन्दु भी है जो प्रेम की परिभाषा का सीधा अंग तो नहीं है, किन्तु ये दोनों बाते होने पर, (अर्थात् (1) दूसरे को अपना समझने एवं (2) दूसरे का हित चाहने पर), प्रेम के परिणाम के रूप में स्वाभाविक रूप से अपने आप आता है। वह यह है कि जिसे हम प्रेम करते हैं (अर्थात् जिसे हम अपना समझते हैं और उसका हित चाहते हैं) वह हमें प्रिय लगता है अर्थात् उसको देखकर हमें सुख मिलता है, तृप्ति मिलती है। वह व्यक्ति अच्छा लगता है, सुन्दर लगता है। यह 'अच्छा

लगना' या तृप्ति मिलना रसानुभूति (aesthetic experience) है जो प्रेम का स्वाभाविक प्रतिफल है। प्रेम जितना गहरा होगा, रसानुभूति भी उतनी ही गहरी होगी।

सुन्दर लगना प्रेम का पारितोषिक है। सौन्दर्यशास्त्र में सुन्दरता की एक परिभाषा इस रूप में दी जाती है कि ''सुन्दरता प्रेमभरी निगाह का नाम है'' ("Beauty is nothing but an eye of love".)। माँ को अपना बच्चा चाहे जैसा भी हो सुन्दर लगता है। कहा जाता है कि लैला देखने में सुन्दर नहीं थी लेकिन मजनू के लिए वह सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी थी। यह देखा जाता है कि पति–पत्नी में जब प्रेम की मात्रा कम हो जाती है तो उनमें परस्पर आकर्षण घट जाता है। किन्तु जो पति–पत्नी एक दूसरे को सच्चे अर्थ में प्यार करते हैं (जिसका अर्थ ऊपर कहा गया है) तो उनमें परस्पर आकर्षण बना रहता है। जब पति–पत्नी में परस्पर आकर्षण एवं तृप्ति का अभाव हो जाय तो इसकी दवा है कि वे एक दूसरे के प्रति प्रेम का (अर्थात् मैत्रीभावना का) अभ्यास करें।

यहाँ प्रसंगवश इस बात का उल्लेख कर देना सभीचीन होगा कि जब स्त्री–पुरुष में प्रेम का सम्बन्ध गौण होकर केवल काम–संबंध रह जाता है तो वह काम–संबंध फिर नीरस हो जाता है, उसमें विशेष तृप्ति नहीं रह जाती। काम का सुख चंद्रमा के प्रकाश की भाँति है और प्रेम का सुख सूर्य के प्रकाश की भाँति है। चन्द्रमा तभी प्रकाशित होता है जब वह सूर्य के सामने रहता है अथवा चन्द्रमा का उतना ही भाग प्रकाशित होता है जितना सूर्य के सामने होता है। चन्द्रमा का प्रकाश स्वयं का प्रकाश नहीं है वरन् सूर्य से लिया हुआ प्रकाश है। किन्तु सूर्य का प्रकाश अपने आप का प्रकाश है, जो चन्द्रमा को भी प्रकाशित करता है। उसी तरह प्रेम का आनन्द स्वयं का आनन्द है जो काम–सम्बन्ध को भी आनन्द प्रदान करता है। काम के वास्तविक सुख का रहस्य भी प्रेम में निहित है। इसीलिए प्रेम विहीन काम नीरस होता है।

इस प्रकार हम देखतें हैं कि प्रेम के स्वरूप में तीन बिन्दु हैं – जिसे हम प्रेम करते हैं (1) उसके साथ अपनत्व का भाव रखते हैं, (2) उसका हित चाहते हैं, और (3) वह हमें प्रिय लगता है, उससे हमें तृप्ति मिलती है। पहले वाले दो बिन्दु प्रेम के अर्थ (परिभाषा) में आते हैं, किन्तु तीसरा

बिन्दु (अर्थात् अच्छा लगना और तृप्ति मिलना) प्रेम की परिभाषा का सीधे अंग नहीं है वरन् वह पहले वाले दो बिन्दुओं (अपना समझना और हित चाहना) का परिणाम है जो प्रेम में अपने आप आता है। अभ्यास करने की दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण है कि पहले वाले दो दो बिन्दुओं का हम प्रयत्नपूर्वक अभ्यास कर सकते हैं, तीसरा बिन्दु उस अभ्यास के परिणाम स्वरूप आपने आप आता है, उसका अभ्यास नहीं किया जाता। इसीलिए प्रेम (मैत्री) का अभ्यास या भावना करने का अर्थ है कि पुनः पुनः मन में इस बात का चिन्तन करना कि सभी अपने हैं, सभी सुखी हों। ऐसा किसी एक के प्रति भी किया जा सकता है और सभी के प्रति भी किया जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन से प्रेम का अर्थ स्पष्ट होने पर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि कुछ मनःस्थितियों को हम प्रेम कह देते हैं किन्तु वे प्रेम नहीं हैं। उदाहरण के लिए, हम कहते हैं कि अमुक व्यक्ति को "हम इतना प्यार करते हैं कि उसके बिना रह नहीं सकते, उसको अपने से अलग नहीं कर सकते"। इसी अर्थ में यह भी कह दिया जाता है कि जैसे मछली पानी के बिना एक क्षण नहीं रह सकती उसी भाँति प्रेमी अपने प्रिय के बिना नहीं रह सकता। सुनने में यह अच्छा लगता है किन्तु विचार कर देखा जाय तो स्पष्ट हो जाएगा कि यह मनःस्थिति भी स्वार्थ का ही एक रूप है। इसमें हम केवल अपना सुख देख रहे हैं, प्रिय व्यक्ति का सुख नहीं देख रहे हैं, और इसीलिए हम उसको अपने साथ चिपकाए रखना चाहते हैं। इसमें हम दे नहीं रहे हैं वरन् केवल ले रहे हैं। इसीलिए यह प्रेम नहीं वरन् स्वार्थ है। इसे ही आसक्ति, मोह, राग (attachment, infatuation) आदि नामों से कहा जाता है। आसक्ति से प्रेम बिलकुल भिन्न है। आसक्ति स्वार्थ का भाव है, प्रेम परार्थ का भाव है। कुछ कवियों ने राग (अनुराग) को प्रेम कहकर महिमामण्डित किया है। भावनात्मक दृष्टि से यह बात अच्छी हो सकती है; किन्तु विचार की दृष्टि से यह भी शुद्ध प्रेम नहीं है। यह अलग बात है कि प्रेम में भावना तो आती ही है, किन्तु भावना के आधार में शुद्ध प्रेम होता है जिसका अर्थ है प्रिय व्यक्ति को अपना समझना और उसका हित चाहना।

इसी प्रकार हम कहते हैं "मिठाई से मुझे बहुत प्रेम है", अथवा टी.

वी. में एक विज्ञापन के प्रसारण में एक लड़की हाथ में रसना नाम के शर्बत की बोतल लेकर कहती है "Rasana, I love You" ("रसना, मैं तुम्हें प्यार करती हूँ')। इस कथन का वास्तविक अर्थ यह है कि मिठाई मुझे बहुत पसंद है, या मिठाई मुझे बहुत अच्छी लगती है, रसना मुझे बहुत अच्छी लगती है। ("I like Rasana")। यह बात अलग है कि 'अच्छा लगना' प्रेम का परिणाम ही है, वरन् यह कहें कि 'अच्छा लगना' प्रेम का पारितोषिक (reward) है। किन्तु अच्छा लगना मात्र प्रेम नहीं है। प्रेम तो दूसरे में अपने को देखने और उसका हित चाहने का भाव है जो उसे हमारे लिए प्रिय बनाता है, अच्छा लगाता है।

प्रेम के अर्थ के विषय में एक और बात समझने की है कि अपनी भिन्नता लेकर प्रेम के भिन्न-भिन्न प्रारूप (shades) हो सकते हैं। उदाहरण के लिए माता-पुत्र का प्रेम या पिता-पुत्री का प्रेम एक तरह का दीखता है और पति-पत्नी या प्रेमी-प्रेमिका का प्रेम थोड़ा दूसरे तरह का लगता है। इसी प्रकार भित्र-भित्र का प्रेम, समाज एवं राष्ट्र के प्रति प्रेम, पूरे विश्व एवं प्राणिमात्र के प्रति प्रेम, भगवान के प्रति प्रेम, आदि में भी परस्पर थोड़ी भिन्नता दीखती है। किन्तु यहाँ यह समझना आवश्यक है कि यह भिन्नता इसलिए नहीं है कि इनमें प्रेम का अर्थ बदल जाता है, प्रेम का अर्थ (मैत्रीभाव) तो सबमें एक ही है, इनमें भिन्नता इस कारण है कि प्रत्येक में प्रेम के साथ कुछ अलग तत्त्व भी मिल जाते हैं जिससे प्रेम का चेहरा बदल जाता है। एक दृष्टान्त (analogy) से यह बात स्पष्ट होगी। दर्जनों प्रकार की मिठाइयाँ होती हैं जो सभी मीठी होती हैं किन्तु प्रत्येक की मिठास का स्वाद थोड़ा अलग-अलग होता है। इन सभी मिठाइयों को मीठा बनाने वाला एक ही तत्त्व है, वह है चीनी। चीनी के बिना मिठाई बनेगी ही नहीं, अथवा चीनी के बिना कुछ बनेगा तो उसे मिठाई कहेंगे ही नहीं। किन्तु चीनी के साथ कुछ अन्य तत्त्व मिलते हैं जिससे मिठाइयों में भिन्नता आ जाती है। उदाहरण के लिए चीनी के साथ खोआ (मावा) मिलाकर पेड़ा या बर्फी बनती है, छेना मिलने से रसगुल्ला या चमचम बन जाता है, मैदा तथा घी मिलाने से कुछ अन्य मिठाइयाँ बन जाती हैं, आदि आदि। इन सबमें मिठास का स्वाद अलग होता है किन्तु सबमें मिठास चीनी के ही कारण होती है; स्वाद में भिन्नता चीनी के कारण नहीं वरन् अन्य वस्तुओं के

कारण होती है जो चीनी के साथ जोड़ी जाती है। इसी प्रकार प्रेम के सभी रूपों में मिठास तो चीनी की भाँति मैत्रीभाव (प्रिय व्यक्ति के साथ अपनत्व एवं उसके सुख या हित का भाव) से ही आती है। मैत्री–भाव न हो तो कोई भी प्रेम–सम्बन्ध मीठा नहीं होगा। भिन्नता तो मैत्रीभाव के साथ अन्य तत्त्वों के मिलने से आती है। उदाहरण के लिए पति–पत्नी के प्रेम में श्रृंगार भाव (romance) और काम–भाव (sex) मिल जाता है, बच्चे के प्रति प्रेम में वात्सल्य भाव मिल जाता है। माँ–बाप और गुरु के प्रति प्रेम में श्रद्धाभाव (reverence) मिल जाता है, भगवान के प्रति प्रेम में समर्पण–भाव मिल जाता है, आदि आदि। ध्यान देने की बात यह है कि जैसे किसी भी मिठाई के मिठास का कारक तत्त्व चीनी ही है उसी प्रकार किसी भी प्रेम सम्बन्ध की रसानुभूति का कारक मैत्रीभाव (अर्थात् प्रिय के प्रति अपनत्व एवं उसके हित का भाव) ही है। मैत्रीभाव के बिना सभी प्रेम सम्बन्ध नीरस एवं यान्त्रिक (mechanical) हो जाते हैं।

मैत्री–मन्त्र

हम जब किसी के प्रति मैत्रीभावना का अभ्यास करेंगे तो उस व्यक्ति का स्मरण कर मन में उसके प्रति तीन बातें दुहराएँगे। वे हैं –

1. आप हमारे ही हो (You are my own) ।
2. आप भला हो जाओ (Be good) ।
3. आप सुखी होओ (be happy) ।

इन तीनों के समाहार को हम मैत्री–मंत्र कह रहे हैं। मंत्र इसलिए कहा जा रहा है क्योंकि मन में बार–बार इसकी भावना करते हैं अर्थात् दुहराते हैं जैसे कि मंत्र जपा जाता है। मंत्र वस्तुतः मन में ही जपा जाता या मनन किया जाता है। मनन करने से ही उसे मंत्र कहते हैं ("मननात् मंत्रः")। चूँकि इसे मन में ही मनन किया जाता है इसलिए यह एक प्रकार का ध्यान (meditation) है जिसे मैत्री–ध्यान (Maitri-meditation) कहा जाता है। हाँ, यह सविकल्प ध्यान (thoughtful meditation) है, निर्विकल्प ध्यान (thoughtless meditation) नहीं है, क्योंकि इसमें चिन्तन है, मनन है।

इस प्रसंग में एक बात का उल्लेख कर देना समीचीन होगा। मैत्रीभावना प्रथमतः या मुख्यतः मानसिक भावना है, इसका अर्थ यह नहीं है कि इसे व्यावहारिक जीवन में कार्यरूप में परिणत नहीं करना है। मन में जब मैत्रीभाव रहेगा तो बाह्य व्यवहार में उसका प्रकटीकरण अपने आप होगा। असलियत यह है कि किसी भी कार्य का प्रारंभ पहले मन में ही होता है, बाह्य कार्य भी पहले मन में ही इच्छा या संकल्प या भावना के रूप में होता है, वही फिर कार्य के रूप में बाहर प्रकटित होता है। इसीलिए बाह्य–व्यवहार में बदलाव के लिए पहले मानसिक बदलाव लाना होता है; मानसिक भाव बदलने पर बाह्य व्यवहार अपने आप बदल जाता है। अतः प्राथमिकता बाह्य व्यवहार बदलने की नहीं वरन् आन्तरिक भाव बदलने की होनी चाहिए, बिना अन्तर्भाव बदले बाह्य व्यवहार बदलेगा ही नहीं। मैत्रीभावना का अभ्यास अन्तर्मन को बदलने का अभ्यास है।

इस संदर्भ में एक और बात है। मैत्रीभावना में तो हम केवल मन से ही दूसरों का कल्याण मनाते हैं; बाह्यरूप में दूसरों का कल्याण करने या

सेवा करने की हमारी शारीरिक एवं आर्थिक क्षमता सीमित है। हम सबकी सेवा नहीं कर सकते। किन्तु मानसिक भाव की सेवा तो असीम है, इसके द्वारा हम सबकी सेवा निर्बाध रूप से कर सकते हैं। हाँ, अपनी क्षमता के अनुसार हम बाह्य सेवा भी कर ही सकते हैं और करना भी चाहिए। जब मैत्रीभावना मन में जड़ जमा लेगी तो अपनी शारीरिक और आर्थिक क्षमता के अनुरूप हम बाह्य सेवा भी अपने आप करेंगे। किन्तु यदि क्षमता वैसी नहीं है तो मानसिक सेवा (मैत्रीभावना) का रास्ता तो खुला ही हुआ है। यहाँ कोई प्रश्न कर सकता है कि हम दूसरों की कोई भौतिक रूप से सेवा न करें और केवल मन में ही उनका कल्याण मनाएँ तो इतने मात्र से उनका क्या कल्याण होगा? उत्तर है कि इससे दूसरों का कल्याण होगा और बहुत कल्याण होगा। (यह कैसे होगा इसका विस्तृत विवेचन हम आगे प्रसंगानुसार करेंगे।) यह भी है कि मैत्रीभावना के अभ्यास से दूसरों का कल्याण तो बाद में होगा, किन्तु अपने आप का कल्याण पहले होगा और तुरंत होगा। मैत्रीभावना की यह बड़ी भारी खूबी या विशेषता है कि इसे किया तो जाता है अपने आपके हित के लिए, किन्तु इसमें दूसरों का हित अपने आप अन्तर्निहित है।

मैत्री–मंत्र के जो उक्त तीन बिन्दु हैं उनकी थोड़ी व्याख्या अपेक्षित है जिससे कुछ अन्तर्निहित प्रश्न स्पष्ट हो जाएँ। मैत्री–मंत्र के इन तीनों अंगों को समग्र (holistic) रूप से जपना या मनन करना है, किन्तु इनका प्रत्येक का अलग अर्थ और महत्त्व है।

(1) "आप हमारे ही हो **(You are my own)****

जब हम कह रहे हैं कि 'तुम हमारे ही हो' तो इसका प्रयोग स्वामित्व (possessive) अर्थ में नहीं लिया जा रहा है वरन् एकत्व या तादात्म्य या अपनत्व (unity, affinity) के अर्थ में किया जा रहा है। जब हम कहते हैं कि मकान हमारा है या जमीन हमारी है या सम्पत्ति हमारी है तो यह स्वामित्व (possessive) अर्थ में है, अर्थात् मकान जमीन आदि मेरी सम्पत्ति है और मैं उसका मालिक हूँ। किन्तु जब मैत्रीभाव में ऐसा कहते हैं तो उसका स्वामित्व वाला अर्थ नहीं है वरन् यह अर्थ है कि वह व्यक्ति पराया नहीं है। पराएपन (otherness) का भाव हटाना ही अपना कहने का अर्थ है। इसका अर्थ है कि जैसे मैं अपने आप को अपना समझता हूँ वैसे ही उस

व्यक्ति को भी अपना समझता हूँ। माँ अपने बच्चे को अपना समझती है अर्थात् बच्चे में अपने आप को ही देखती है; फलतः बच्चे के सुख को अपना सुख एवं बच्चे के दुःख को अपना दुःख समझती है। 'अपना' समझने का यही अर्थ है। शरीर से तो बच्चा माँ से अलग है ही किन्तु भावना में अलग नहीं है, पराया नहीं है। यही अपनत्व मैत्रीभावना के अभ्यास द्वारा अन्यों से भी किया जा सकता है।

ऐसा नहीं है कि दूसरे तो दूसरे हैं ही, हम जबर्दस्ती उनसे कृत्रिम अपनत्व जोड़ रहे हैं। वस्तुतः सभी अपने हैं, हम अज्ञानवश या भूलवश उन्हें पराया समझ रहे हैं। ऋषियों, मनीषियों, साधकों, संतों ने इस आध्यात्मिक सत्य को जाना है कि विश्व में कोई भी पराया नहीं है, सबके साथ हमारा आन्तरिक आत्मीय संबंध है। केवल चेतन प्राणियों से ही नहीं, वरन् पेड़–पौधे आदि प्रकृति की सभी वस्तुओं से और यहाँ तक कि तथाकथित जड़ वस्तुओं से भी हमारा आत्मीय सम्बन्ध है। हमारी चेतना पर अज्ञान का एक पर्दा पड़ा हुआ है जिस कारण हम इस एकत्व को नहीं देख पाते हैं। मैत्रीभावना की साधना के द्वारा अज्ञान का यह आवरण हट जाता है और हमें फिर उस स्वरूपगत एकत्व की अनुभूति होने लगती है। अतः एकत्व (अपनत्व) की भावना का अभ्यास करना किसी कृत्रिम भावना को थोपना नहीं है वरन् एकत्व के भूले हुए सत्य को याद करना है; अपने वाले को पराया समझने, मित्र को शत्रु समझने की जो भूल हम कर बैठे हैं उसे सुधार लेना है।

इस संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि मैत्रीभाव आत्मा का सहज स्वभाव है जो मलावरण के कारण पूरा प्रकटित नहीं हो पा रहा है। जैसे जैसे मलावरण दूर होकर आत्मा के स्वरूप की प्राप्ति होती जाती है वैसे वैसे मैत्रीभावना सहज स्वाभाविक रूप में प्रवाहित होने लगती है, फिर प्रयत्नपूर्वक मैत्रीभावना का अभ्यास नहीं करना पड़ता। इसी कारण आत्मप्राप्त व्यक्तियों में प्रेम (मैत्री) का सहज प्रवाह होते रहता है, उन्हें इसका अलग से अभ्यास नहीं करना पड़ता। साधारण जन में भी कभी–कभी विशेष अवसर पर प्रेम का स्वाभाविक प्रवाह होते देखा जाता है, उस समय उनमें विशेष कारण वश मलावरण थोड़ी देर के लिए हट जाता है और प्रेम प्रकटित हो जाता है। किन्तु मलावरण का स्थायी रूप

से नाश न होने के कारण यह प्रवाह हमेशा नहीं रहता। इसीलिए साधारण जन को मैत्रीभावना का प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करने की आवश्यकता होती है।

(2) ''आप भले हो जाओ'' **(Be good)**

मैत्रीमंत्र का दूसरा अंश है कि हम मैत्री दिए जाने वाले व्यक्ति के प्रति उसके भला होने की भावना या कामना करते हैं। वह भला हो ऐसी भावना करने की आवश्यकता यह है कि इसके पीछे यह सत्य है कि बिना भला हुए कोई सुखी नहीं हो सकता। बिना भला हुए कोई अनैतिक तरीके से धन–दौलत प्राप्त कर ले सकता है (वह भी स्थायी रूप से नहीं), किन्तु बिना भला हुए उसे सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। भौतिक सम्पन्नता एक बात है, और सुख शान्ति, मन की प्रसन्नता आदि दूसरी बात है। सुख एवं प्रसन्नता का अनुभव मन का भाव है जो भीतर से आता है। जो व्यक्ति भला नहीं है (स्वार्थी, अहंकारी, ईर्ष्यालु, दुराचारी आदि है) उसके मन में सहज प्रसन्नता का भाव नहीं उठता। वह चिन्ता, कुण्ठा, अवसाद आदि से ग्रस्त रहता है। अतः ऐसे व्यक्ति के सुखी होने की कामना करना है तो पहले उसके भला हो जाने की कामना करना होगा। इसीलिए कहावत के रूप में यंह कहा जाता है कि यदि किसी को सुखी बनाना चाहते हो तो उसे भला बनाओ। अतः ''सुखी होओ'' ("Be happy") कहने के पहले ''भला हो जाओ'' ("Be good") कहना आवश्यक है।

भला होने की भावना सबके प्रति करनी है, क्योंकि सामान्यतया कोई पूर्ण भला नहीं होता, सबमें कुछ न कुछ बुराई होती है जो उसके दुःख का कारण बनती है। केवल पूर्णतः आत्मप्राप्त व्यक्ति ही पूरे भले हो सकते हैं, अन्यथा सामान्य जन बुराई से पूर्णतया मुक्त नहीं होता। इसीलिए सबके भला होने की भावना की जाती है। भला होना सुखी होने का आधार है।

जब हम दूसरों के प्रति मैत्रीभावना के अभ्यास में यह भावना करते हैं कि वे भला बनें ताकि सुखी हों तो ऐसा करने से प्रकारान्तर से या अप्रत्यक्ष रूप में हम स्वयं भला बनते हैं। इसके पीछे मनोवैज्ञानिक सत्य यह है कि हम दूसरों के प्रति जैसा भाव बार बार करते हैं वैसा हम अपने अनजाने ही स्वयं बन जाते हैं। यदि हम किसी व्यक्ति के प्रति बार बार

भावना या चिन्तन करें कि यह बहुत दुष्ट है तो हमारे अनजाने ही हमारे भीतर दुष्टता आ जाएगी। इसीलिए सन्तों ने कहा है – किसी की बुराई मत देखो (अन्यथा बुराई देखते देखते तुम स्वयं बुरा हो जाओगे)। जब हम शीशा देखकर तिलक लगाते हैं या बाल में कंघी करते हैं तो देखते तो हैं शीशे वाले चेहरे को, किन्तु तिलक हमारे माथे पर लगता है, कंघी हमारे बाल में लगती है। शीशे का चेहरा हमारा प्रतिबिम्ब है, बिम्ब तो हमारा स्वयं का चेहरा है। किन्तु बिम्ब (चेहरा) में तिलक लगाने के लिए देखना तो प्रतिबिम्ब की ओर ही होगा, प्रतिबिम्ब हमारे तिलक लगाने का माध्यम बन जाएगा। दूसरे लोग हमारे लिए प्रतिबिम्ब हैं। हम अपने लिए जो चाहते हैं वह दूसरों के लिए चाहें तो हमें उसकी प्राप्ति हमारे अनजाने ही हो जाएगी। अपने लिए जो चाहिए उसे पाने का सरल तरीका है उसे दूसरों के लिए चाहना। एक सन्त ने कहा है – तुम धनी बनना चाहते हो तो यह कामना करो कि सब लोग धनी हो जाएँ, किन्तु यदि तुम दूसरे का धन देखकर ईर्ष्या करोगे और उसे गरीब देखना चाहोगे तो तुम स्वयं दरिद्र हो जाओगे।

कोई हमारा शत्रु है जिसने हमें बहुत नुकसान पहुँचाया है अथवा कोई ऐसा है जिसने हमारा नुकसान तो नहीं किया है किन्तु वह अपने आपमें बहुत दुष्ट और दुराचारी है तो ऐसे लोगों के प्रति सामान्यतया मैत्रीभावना करने का मन नहीं करता वरन् उनके प्रति यह भावना होती है कि इन्हें दण्ड स्वरूप कष्ट मिले। किन्तु आवश्यकता इस बात की है कि ऐसे लोगों के प्रति भी मैत्रीभावना की जाए और ऐसे लोगों के प्रति विशेष रूप से की जाए। दुष्टों को मैत्रीभावना क्यों दी जाए इस पर पहले चर्चा हो चुकी है। (देखिए "दुष्ट और दुश्मन के प्रति मैत्रीभावना की निजी आवश्यकता" वाला शीर्षक), यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि दुष्ट और दुश्मन को लेकर हमारे मन में जो तनाव रहता है एवं कष्टदायक ग्रंथि बन जाती है उससे मुक्ति पाने के लिए एवं अपने मन को प्रसन्न रखने के लिए दुष्ट और दुश्मन के प्रति मैत्रीभावना करना आवश्यक है। (वहाँ मैत्रीभावना का क्या रूप होगा इसपर भी विस्तृत चर्चा उक्त शीर्षक में हो चुकी है)। दुष्ट व्यक्ति यदि नहीं सुधरता है तो उसे सुधारने के लिए "कठोर" (rigorous) मैत्रीभावना का अभ्यास किया जा सकता है, और

करना भी चाहिए। इस पर भी चर्चा हो चुकी है (देखिए ''कठोर मैत्रीभावना का अभ्यास'' वाला शीर्षक), अतः यहाँ इस पर पुनः चर्चा की आवश्यकता नहीं है। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि दुष्ट और दुश्मन भी हमारा ही है और उसे सही रास्ते पर लाने के लिए प्रयत्न करना (मैत्रीभावना देना) हमारा प्रेमयुक्त कर्तव्य है जिसे करने से एक ओर उस व्यक्ति में सुधार आएगा और दूसरी ओर हमारा मन सुखी और तनावरहित हो जाएगा।

(3) ''आप सुखी होओ'' **("Be happy")**

जब हम ''सुख'' शब्द का प्रयोग कर रहे हैं तो इसमें ''हित'' या ''कल्याण'' शामिल है। बात ऐसी है कि कोई सुख ऐसा भी हो सकता है जो हितकारी न हो; ऐसे सुख की कामना मैत्रीभावना में नहीं की जाती है। जो सुख हितकारी नहीं है उसे वास्तविक सुख कहेंगे ही नहीं क्योंकि वह अल्पकालिक होता है और अन्त मे दुःखदायी होता है। अतः हित और वास्तविक सुख एक ही वस्तु है। यहाँ हम सुख और हित का पर्याय के रूप में प्रयोग कर रहे हैं। अतः ''तुम सुखी होओ'' या ''तुम्हारा हित हो'' या ''तुम्हारा कल्याण हो'' – ये सारे कथन एक ही अर्थ के द्योतक हैं।

हमारे मन में सुख की जो भी अवधारणा हो उसे मैत्रीभावना किए जाने वाले व्यक्ति के प्रति लागू करके उसके सुखी होने की कामना या भावना कर सकते हैं। उदाहरण के लिए, वह व्यक्ति सदा नीरोग और स्वस्थ रहे, वह दरिद्र न हो, वरन् साधन–सम्पन्न रहे, उस पर कोई विपत्ति न पड़े, उसके यहाँ कोई अकालमृत्यु न हो, उसकी सब तरह से अभिवृद्धि हो, आदि आदि। (उसके भला होने की भावना तो इसके पहले करनी ही है)। भगवान बुद्ध ने मैत्री (मेत्ता) का अभ्यास बताते हुए कहा है कि हम अपने पड़ोसी के प्रति भावना करें कि वह भला हो, उसके खेत में खूब अन्न हो, उसकी गायें खूब दूध दें, उसके परिवार में कोई कष्ट न पड़े, आदि आदि।

सभी धर्मों एवं सभी भाषाओं में लोकहित के लिए प्रार्थनाएँ हैं जिनका उपयोग किया जा सकता है। जैसे ''लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु'' (''सभी लोग सुखी हों''), अथवा –

''सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्।।''

अर्थात् ''सभी सुखी होवें, सभी नीरोग रहें, सभी लोग अच्छा (भला) देखें अर्थात् स्वयं भला हों और दूसरों में भलाई देखें, कोई भी व्यक्ति दुःख का भागी न हो।''

''दुर्जनः सज्जनो भूयात् सज्जनः शान्तिमाप्नुयात्।
शान्तो मुच्येत बन्धेभ्यो मुक्तस्चान्यान् विमोचयेत्।।''

अर्थात् ''जो दुर्जन है वह सज्जन हो जावे, सज्जन शान्ति प्राप्त करे, शान्त व्यक्ति बंधन से मुक्त हो, और मुक्त व्यक्ति दूसरों को मुक्त करावे।'' वैदिक साहित्य में सभी जीव–जन्तु, जल–थल–नभ, वनस्पति, पर्यावरण, प्रकृति आदि इन सबके लिए प्रार्थना की गई है जिसे 'स्वस्तिवाचन' या 'शान्तिपाठ' कहा जाता है।

ईसाई धर्म में भगवान से प्रार्थना की जाती है कि भगवान लोगों के दुखी जीवन में हस्तक्षेप (intercede) कर लोगों को दुःख से मुक्त करें, इसे ''इंटरसेसरी प्रेयर'' (Intercessory Prayer) अर्थात् ''दुःख में हस्तक्षेप करने की प्रार्थना'' कहते हैं। यह प्रार्थना किसी व्यक्ति के लिए भी की जाती है और पूरे समूह या पूरे विश्व के लिए भी की जाती है।

बाबा कल्याण दास (अमरकण्टक वाले) ने एक बहुत ही अच्छा ''मंगल गीत'' लिखा है जिसे इस पुस्तिका के अन्त में दिया गया है। मैत्रीभावना के अभ्यास में इन सभी प्रार्थनाओं का उपयोग किया जा सकता है।

मैत्री–मंत्र के ये तीनों अंग वस्तुतः तीन भावनाएँ या तीन साधनाएँ नहीं है वरन् एक ही भावना (मैत्रीभावना) के तीन रूप हैं। अतः इन तीनों को एक साथ करना चाहिए। वैसे, कोई चाहे तो इन तीनों को सुविधानुसार अलग–अलग भी कर सकता है, लाभ तो होना ही है, किन्तु तीनों को एक में मिलाकर करने पर मैत्रीभावना का अभ्यास पूर्ण होता है। अन्त में हम याददास्त के लिए मैत्रीमंत्र का पुनः उल्लेख कर दें–

1. आप हमारे ही हो (You are my own)
2. आप भला होओ (Be good)
3. आप सुखी होओ (Be happy)

मैत्रीभावना के लाभ

(i) भूमिका

यदि हम मन से पूर्ण स्वस्थ एवं सुखी होना चाहते हैं और अपने जीवन में तृप्ति एवं परिपूर्णता (fulfilment) चाहते हैं तो हमारे लिए मैत्रीभावना से बढ़कर कोई दूसरी विधा नहीं है। बहुत से वाक्यों को महिमामण्डित करने के लिए एवं आकर्षक बनाने के लिए अतिशंयोक्ति के रूप में कह दिया जाता है, किन्तु यह कथन अक्षरशः सत्य है, इसमें तनिक भी अतिशंयोक्ति नहीं है। इसे करके देखने पर इसका लाभ एवं महत्त्व अपने आप समझ में आ जाता है। यह अपने जीवन एवं दूसरों के जीवन को भी सुखी बनाने की कला है। किसी ने कहा है ''Loving is the art of living'' अर्थात् ''प्रेम करना जीने की कला है'' (हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि प्रेम और मैत्रीभावना पर्यायवाची शब्द हैं)। यह कला या विधा देकर प्रकृति ने हमारे ऊपर बहुत बड़ी कृपा की है। अनुभवकर्ता व्यक्तियों ने यह भी कहा है कि ''प्रेम जीवन का पोषक अमृत–रस है'' ("Love is the elixir of life")।

जीवन के लिए जो वस्तु जितनी ही अधिक आवश्यक है उसे प्रकृति ने उतना ही सुलभ एवं सस्ता बनाकर दिया है। उदाहरण के लिए हीरा–जवाहरात जीने के लिए आवश्यक नहीं है, यह बहुत मँहगा है। भोजन जीने के लिए आवश्यक है, यह हीरा–जवाहरात की तुलना में बहुत सस्ता है। अन्न से भी अधिक आवश्यक जल है (इसीलिए जल को ''जीवन'' कहा गया है)। आज जल का भी दाम देना पड़ता है किन्तु फिर भी अन्न से तो वह सस्ता ही है; प्रकृति ने तो अपनी ओर से जल को मुफ्त दिया है ही। जीने के लिए हवा सम्भवतः सबसे आवश्यक वस्तु है; अन्न–जल के बिना तो आदमी कुछ दिन जीवित रह सकता है किन्तु हवा (आक्सीजन) के बिना तो चन्द मिनटों में ही मृत्यु हो जाती है। प्रकृति ने हवा को निःशुल्क रूप में दिया है और अपनी ओर से शुद्ध रूप में दिया है; किन्तु हवा और जल दोनों को मनुष्य ने प्रदूषित कर दिया है। इसमें प्रकृति का दोष नहीं है, दोष मनुष्य का है। इसी प्रकार सूर्य का प्रकाश भी

धरती पर जीवन के लिए आवश्यक है, जो प्रकृति की निःशुल्क देन है।

जैसे जल, वायु, धूप, आदि जीवन के लिए अति आवश्यक हैं और प्रकृति ने उन्हें निःशुल्क दिया है, उसी प्रकार प्रेम जीवन के लिए अति आवश्यक वस्तु है, प्रकृति ने प्रेम की क्षमता भी निःशुल्क दी है। प्रेम (मैत्रीभावना) करने में कुछ खर्च नहीं करना पड़ता अथवा कोई कठिन श्रम या तप नहीं करना पड़ता, इसे हम बिना कुछ गँवाए आसानी से कर सकते हैं। हाँ, एक वस्तु प्रेम में देनी या गँवानी पड़ती है, वह है अहंकार (ego)। अहंकार प्रेम का विपरीत तत्त्व है, अहंकार और स्वार्थ एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। 'अहं' (ego) की स्थिति में हम अपने को दूसरों से काटकर अपने ही में सीमित कर रखते हैं; हम अपने को ही अपना समझते हैं और बाकी सबको पराया समझते हैं, फलतः हम केवल अपने को ही देखते हैं और केवल अपना ही हित चाहते हैं, दूसरों को नहीं देखते और दूसरों का हित नहीं चाहते। इसीलिए दार्शनिक भाषा में अहं (ego) की परिभाषा दी गई है – "अहं अलगाव एवं परिच्छिन्नता का भाव है" ("Ego is the principle of separation and limitation")। अहंकारी व्यक्ति प्रेमी नहीं हो सकता और प्रेमी व्यक्ति में अहंकार नहीं रह सकता। प्रेम और अहंकार में तराजू के दो पलड़ो जैसा संबंध है–एक जितना उठेगा उतना ही दूसरा नीचे जाएगा, और एक जितना नीचे जाएगा उतना ही दूसरा ऊपर उठेगा। इसीलिए कबीर ने इन दोनों का एक साथ रहना असंभव बताया है–

"पीया चाहे प्रेमरस, राखा चाहे मान।
एक म्यान में दो खडग देखा सुना न कान।।"

अर्थात् "प्रेमरस भी पीना चाहे और मान (अभिमान, अहंकार) भी रखना चाहे, यह उसी प्रकार असंभव है जैसे एक म्यान में दो तलवार रखना"। मैत्रीभावना में इसी अहं को देना या गलाना पड़ता है अथवा मैत्रीभावना के अभ्यास से स्वयं गल जाता है। कबीर ने फिर कहा है–

"प्रेम न बाड़ी ऊपजे, प्रेम न हाट बिकाय।
राजा परजा जेहि रुचे, शीश देइ लै जाय।।"

अर्थात् "प्रेम न खेत की क्यारी में पैदा होता है और न बाजार में बिकता है, धनी गरीब जो भी चाहे "शीश" देकर प्रेम प्राप्त कर ले"।

"शीश" अहंकार (अभिमान) का प्रतीक है। प्रेम में अपना "शीश" (अहं) देना होता है। ऊपर से देखने में यह महँगा सौदा लग सकता है, किन्तु अहं देने (गलाने) में कितनी तृप्ति है, कितना आनन्द है, कितना भीतरी शक्ति का प्रकटीकरण एवं कितनी परिपूर्णता है यह अनुभव करने वाला व्यक्ति अच्छी तरह जानता है।

हवा सामान्यतया स्वाभाविक रूप से अपलब्ध है, इससे उसके महत्त्व पर हमारा ध्यान नहीं जाता। किन्तु जब दम घुटने लगता है (पानी में डूबने या गला दबने या घना धुँआ और जहरीली गैस का सामना होने आदि पर) और हम साँस लेने के लिए छटपटाने लगते हैं, तब हमें हवा! का महत्त्व पता चल जाता है। इसी प्रकार सामान्यतया हमारे भीतर प्रेम की कमोवेश उपस्थिति रहती है इसलिए हम प्रेम का महत्त्व देख नहीं पाते। किन्तु कभी ऐसी भी स्थिति आती है जब हृदय में प्रेम का पूर्ण अभाव हो जाता है। मानसिक रोगियों में देखा गया है कि उनके हृदय में प्रेम का प्रवाह सूख गया है। लेखक को ऐसे मानसिक रोगियों का अनुभव है जिनके हृदय में प्रेम की सरिता एकदम सूख गई है और वे इसके लिए छटपटाते हैं। कई लोग प्रेम के अभाव में अनजाने ही जीवन में नीरसता, छटपटाहट एवं अशान्ति का अनुभव करते हैं और उन्हें यह नहीं मालूम हो पाता कि इसके लिए उन्हें किस चीज की आवश्यकता है, वे नहीं समझ पाते कि उनके जीवन में प्रेम के अभाव के कारण ऐसा हो रहा है। जब मैत्रीभावना के अभ्यास से उनमें प्रेम का प्रवाह पुनः आरंभ हो जाता है तब उन्हें समझ में आ जाता है कि उन्हें इसी चीज की आवश्यकता थी। लेखक ने अपने गुरु प्रोफसर लालजी राम शुक्ल के मनोचिकित्सकीय अनुभव में एवं अपने स्वयं के "मानसिक परामर्श" (mental counseling) के अनुभव में इस बात को स्पष्ट रूप से देखा है और यह भी देखा है कि जबतक मानसिक रोगी मैत्रीभावना का अभ्यास कर प्रेम देने की स्थिति में नहीं आ जाता तबतक उसका मन पूर्ण रूप से स्वस्थ नहीं होता और उसे तृप्ति नहीं मिलती।

प्रेम (मैत्रीभावना) के अभ्यास के अनगिनत लाभ हैं अपने लिए भी और दूसरों के लिए भी। अपने लिए ही लाभ अधिक है। मैत्रीभावना के अभ्यास में हम सोचते और मनाते हैं दूसरों का लाभ और होता है हमारा लाभ; दूसरों का लाभ तो बाद में होता और धीरे–धीरे होता है किन्तु अपना लाभ

तो पहले ही होता है और तुरन्त होता है। समझने की सुविधा के लिए मैत्रीभावना के लाभों को बिन्दुओं में गिनाया जा सकता है जो निम्नलिखित है।

(ii) आनन्द एवं तृप्ति की प्राप्ति

आखिरकार हमारे सभी प्रयासों का उद्देश्य इच्छाओं की पूर्ति तथा आनन्द एवं तृप्ति की प्राप्ति है। वैसे, हमारे सभी प्रयास और क्रियाकलाप आनन्द की प्राप्ति नहीं करा पाते हैं। किन्तु मैत्रीभावना के अभ्यास के फलस्वरूप हृदय में प्रेम का प्रवाह होने लगता है तो इसमें परम आनन्द और परम तृप्ति की अनुभूति होती है। हमारा अन्तर्मन आनन्द एवं तृप्ति के लिए प्यासा है, भले ही इस प्यास की जानकारी हमें स्पष्ट रूप से न हो पाती हो। प्रेम के अनुभव में जितना आनन्द और जितनी तृप्ति मिलती है वह जीवन के किसी भी अन्य अनुभव में नहीं मिलती। जिन लोगों की चेतना विकसित नहीं है और अभी पशुस्तर पर ही है, उन लोगों की बात अलग है। ऐसे लोगों को तो पशु की भाँति केवल शारीरिक–जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति से मतलब रहता है, ऐसे लोग प्रायः पशुओं की भाँति खाने और काम–तृप्ति करने में लगे रहते हैं ("शिश्नोदरपरायणाः")। किन्तु जिनकी चेतना विकसित है और पशु–स्तर से ऊपर उठी हुई है उनकी भूख दूसरे ढंग की होती है; उन्हें प्रेम–रस की चाहत होती है। आत्मा की तृप्ति प्रेम में ही होती है।

जीवन को सिञ्चित करने वाला अमृत–जल प्रेम ही है। जब जीवन से प्रेम गायब हो जाता है तो सारा जीवन नीरस, निःसार और निःशक्त हो जाता है। जीवन के इसी गम्भीर सत्य को बताने वाली दो पद (stanza) की अंग्रेजी की एक लघु कविता है, जिसका उल्लेख यहाँ करना समीचीन है। पहले पद (stanza) में रात की आँखों (तारों) और दिन की आँख (सूर्य) का रूपक दिया गया है, और दूसरे पद में वास्तविक कथ्य है। कविता है–

"The night has a thousand eyes
And the day but one.
Yet the light of the bright world dies
With the dying sun.
The mind has a thousand eyes

And the heart but one.
Yet the light of a whole life dies
When love is done."

Note – Love is done = love is gone.

रात्रि की हजार आँखें हैं अर्थात् हजार तारे हैं, और दिन को केवल एक आँख है सूर्य। किन्तु जब दिन की आँख बन्द हो जाती है अर्थात् सूर्य डूब जाता है तो तारों के होते हुए भी चारों ओर अँधेरा हो जाता है। इसी प्रकार, मन को हजार आँखें हैं अर्थात् वह हजार तरह से सोचता है (तमाम तर्क–वितर्क करता है और नाना प्रकार के विचार लाता है), और हृदय को एक ही आँख है, वह है प्रेम। किन्तु जब हृदय की यह आँख बन्द हो जाती है अर्थात् प्रेम समाप्त हो जाता है तो बुद्धि की हजार आँखें (हजार विचार) रहते हुए भी सारे जीवन का प्रकाश बुझ जाता है, जीवन का सारा आनन्द मर जाता है।

(iii) प्रेम मानसिक स्वास्थ्य के लिए पौष्टिक आहार का काम करता है

जैसे शरीर को स्वस्थ एवं पुष्ट रखने के लिए पौष्टिक आहार की आवश्यकता है वैसे ही मन को भी स्वस्थ एवं सबल रखने के लिए मानसिक आहार की आवश्यकता है। यही आहार है प्रेम। प्रेम खाकर अर्थात् मैत्रीभावना का सेवन कर मन पुष्ट होता है। यदि शरीर से खूब काम लिया जाय किन्तु उसे भोजन न दिया जाय तो शरीर निर्बल हो जाएगा और मृत्यु को प्राप्त हो जाएगा। उसी प्रकार मन से काम लिया जाय किन्तु उसे उसका भोजन (प्रेम) न मिले तो वह निर्बल हो जाएगा और मर जाएगा। जब मन अत्यंत निर्बल हो जाता है और उसमें कुछ भी करने का उत्साह नहीं रह जाता तो कहते हैं मन मर गया है, और ऐसे निःशक्त मन वाले आदमी को कहते हैं कि मरा हुआ आदमी है।

घोड़ा (अश्व) शक्तिशाली जानवर है, इसीलिए शक्ति मापने की इकाई को 'अश्वशक्ति' (हौर्सपावर – Horse Power) कहते हैं; कहते हैं अमुक हौर्सपावर का इंजन है। किन्तु किसी घोड़े की साफ सफाई तो खूब होती है किन्तु उसे दाना–घास (भोजन) न मिलता हो, ऐसे घोड़े के विषय

में एक व्यंग्यात्मक कहावत है – "दाना न घास, दोनों समय खरहरा", अर्थात् घोड़े की साफ–सफाई (खरहरा) तो दोनों समय हो रही है किन्तु दाना–घास (भोजन) नहीं मिल रहा है। तात्पर्य यह कि भोजन के अभाव में घोड़ा सशक्त नहीं होगा। इंजन का भोजन ईंधन (निमस) है, ईंधन से ही इंजन चलता है। इसी प्रकार मन का ईंधन प्रेम है। जैसे दाना–घास खाकर घोड़ा सशक्त होता है और ईंधन खाकर इंजन चलता है उसी प्रकार प्रेम का भोजन खाकर मन सशक्त होता है और जीवन के महत्त्वपूर्ण कार्य करने में सक्षम होता है। बौद्ध परम्परा में साधक को पाली भाषा में "पीतिभक्खा" (प्रीतिभक्षक या प्रेमभोजक) कहा जाता है। साधक की चेतना प्रेम का भोजन कर पुष्ट होती है और उसकी साधना पूर्ण होती है।

प्रेम खाने के सन्दर्भ में एक बात स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि प्रेम खाने का अर्थ दूसरों से प्रेम मिलना नहीं है वरन् इसका अर्थ दूसरों को प्रेम करना है। वास्तविक लाभ एवं चेतना का विकास प्रेम पाने से नहीं होता वरन् प्रेम देने से होता है। प्रेम पाने से यह लाभ अवश्य होता है कि प्रेम पाने वाले में भी प्रेम देने की प्रतिक्रिया जगती है; घृणा पाने वाला व्यक्ति घृणा करने लगता है और प्रेम पाने वाला व्यक्ति प्रेम करने लगता है। किन्तु सारी दुनिया हमें प्यार करे और हम स्वयं प्यार न करें तो हमारा कोई लाभ नहीं होगा। इसके विपरीत सारी दुनिया हमें घृणा करे किन्तु हम मैत्रीभावना के अभ्यास के द्वारा सारी दुनिया को प्यार करें तो हमारा बहुत लाभ होगा। अतः मानसिक स्वास्थ्य का वास्तविक कारक प्रेम पाना नहीं है वरन् प्रेम देना है; प्रेम पाना तो केवल परोक्ष (indirect) रूप से लाभ प्रद होता है।

(iv)इच्छा–शक्ति (Will Power) का दृढ़ होना

मन के पूर्ण स्वस्थ रहने और जीवन की कठिनाइयों का सामना करने में सक्षम होने के लिए यह आवश्यक है कि जिसे 'इच्छा शक्ति' (Will Power) या मनोबल कहते हैं वह मजबूत हो। मैत्रीभावना के अभ्यास से इच्छाशक्ति दृढ़ हो जाती है। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि केवल अपना ही हित चाहने वाले स्वार्थी व्यक्ति का मन कमजोर होता है, उसकी इच्छा–शक्ति कमजोर होती है, और दूसरों का हित चाहने वाले (अर्थात् मैत्रीभावना करने वाले) प्रेमी व्यक्ति की इच्छाशक्ति मजबूत होती है।

मजबूत इच्छाशक्ति वाला व्यक्ति विपरीत परिस्थितियों में भी विचलित नहीं होता और अन्ततः सफलता असके हाथ लगती है। ''प्रेम का भोजन'' (''प्रीतिभक्षण'') उसकी इच्छाशक्ति को पुष्ट करते रहता है और मनोबल गिरने नहीं देता है।

(v) मन की रोग प्रतिरोधक क्षमता में वृद्धि

जैसे शरीर में रोग प्रतिरोधक क्षमता (Immunity Power) होती है जिससे शरीर रोग का प्रतीकार कर देता है और बाहर का कोई संक्रमण (इंफेक्सन – infection) शरीर में लगने नहीं पाता, उसी प्रकार मन में भी रोग प्रतिरोधक क्षमता होती है जो मानसिक स्तर पर वही काम करती है। शरीर का रोग–प्रतिरोधक तंत्र (Immunity System) कमजोर हो जाता है या नहीं के बराबर हो जाता है तो कोई भी रोग शरीर को दबोच लेता है। इसी स्थिति को 'एड्स' ("AIDS" – Aquired Immuno Deficiency Syndrome) कहा जाता है जो स्वयं में कोई रोग नहीं है वरन् रोग प्रतिरोधक क्षमता का अभाव है जो मृत्यु का कारण बन जाता है। अतः स्वास्थ्य के लिए रोगप्रतिरोधक तंत्र (Immunity System) का मजबूत होना बहुत आवश्यक है। यही बात मन के साथ भी है। मन का प्रतिरोधक तंत्र कमजोर होने प्रर मामूली परिस्थिति या मामूली बात भी मन को प्रभावित कर उसे दु:खी एवं रोगी बना देती है।

मैत्रीभावना करने वाले व्यक्ति के मन की रोग–प्रतिरोधक क्षमता सबल होती है जिससे मन पर कोई दुष्प्रभाव नहीं पड़ पाता। इच्छाशक्ति (Will Power) की दृढ़ता (जिसकी चर्चा पिछले बिन्दु में हुई है) प्रतिरोधक क्षमता को बढ़ाने में सहायक बनती है। देखा जाता है कि कमजोर मन का व्यक्ति मामूली बात से भी प्रभावित होकर बेचैन हो उठता है, किन्तु मजबूत मन वाला व्यक्ति ऐसा नहीं होता। मन को मजबूत बनाने के लिए मैत्रीभावना का अभ्यास केवल अच्छा ही नहीं वरन् आवश्यक भी है।

(vi) दूसरों के मानसिक दुष्प्रभाव से बचाव

व्यक्ति के मन में रहने और उठने वाले विचार केवल उसके मस्तिष्क तक ही सीमित नहीं रहते वरन् अदृश्य रूप में बाहर आकर एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। सबकी विचार–तरंगें मिलकर एक अदृश्य मानसिक

वातावरण (Psychic environment) तैयार करती है और उसमें आने वाले व्यक्ति को प्रभावित करती हैं। यदि हम बुरे विचारों से निर्मित मानसिक वातावरण के सम्पर्क में अथवा बुरे विचार वाले व्यक्ति के सम्पर्क में आते हैं तो उसका दुष्प्रभाव पड़कर हममें भी बुराई आ जाती है। अतः अपने मन को दूसरों के विचारों के दुष्प्रभाव से बचाना आवश्यक है। यह तभी सम्भव है जब बुरे विचार वाले व्यक्ति के मन से हमारा मन अधिक तगड़ा हो। तब उसका प्रभाव हमारे ऊपर नहीं पड़ता वरन् हमारा ही प्रभाव उसपर पड़ता है। यह बात एक दृष्टान्त की सहायता से समझी जा सकती है। किसी जलाशय में यदि एक स्थान से पानी निकाला जाय तो उस स्थान पर पानी का दबाव अगल बगल के पानी की तुलना में कम हो जाता है, फलतः अगल बगल के पानी का बहाव उस कम दबाववाले स्थान की ओर होने लगता है। इसके विपरीत यदि उस स्थान पर पानी भरा जाय तो वहाँ का दबाव अगल बगल की तुलना में अधिक होगा और फलतः इसी का बहाव अगल बगल जाने लगेगा। हवा के दबाव में भी कमी या बेशी होने पर भी ऐसा ही होता है। मन के भी दबाव के साथ ऐसा ही होता है। यदि हमारा मन दूसरों से कमजोर है तो उनका प्रभाव हमारी ओर आएगा, किन्तु इसके विपरीत यदि हमारा मन दूसरों से मजबूत है तो हमारा प्रभाव उनकी ओर जाएगा। मैत्रीभावना के फलस्वरूप हमारा मन इतना मजबूत हो जाता है कि हम दूसरों से प्रभावित होने के बजाय दूसरों को प्रभावित करते हैं। हम जहाँ जिस समाज में रहते हैं वहाँ यदि बुरे विचारों का ही वातावरण है तो उससे बचने के लिए आवश्यक है कि हम मैत्रीभावना के अभ्यास से अपने मन को मजबूत बनावें ताकि हम दूसरों से प्रभावित न हों वरन् हम ही दूसरों को प्रभावित कर सकें।

मैत्रीभावना से पुष्ट हुए मन वाला व्यक्ति शरीर से भले ही दूसरों से दब जाय किन्तु मन से वह किसी से नहीं दबता। मानसिक स्तर पर वह अजेय होता है; शरीर से विवश होने और कष्ट पाने पर भी मन से विवश नहीं होता और भीतर से निर्भय रहता है।

(vii) स्वाभाविक प्रसन्नता की प्राप्ति

आज के जीवन की परिस्थितियाँ कुछ ऐसी हो गई हैं और लोगों में उनसे जूझने का मानसिक बल इतना कम हो गया है कि बहुत से लोग अवसाद (Depression), कुण्ठा (Frustration) और तनाव (Tension) से ग्रस्त दीखते हैं। बच्चों में जो स्वाभाविक उत्फुल्लता एवं प्रसन्नता होती है वह बड़ों में नहीं दीखती। आज तनाव (Tension) और अवसाद (Depression) मनोरोग के रूप में फैला हुआ है। मैत्रीभावना इसकी दवा है। मैत्रीभावना करने वाले व्यक्ति में बच्चों की तरह सरलता एवं भोलापन (innocence) आ जाता है जिससे उसके मन में सहज प्रसन्नता का भाव रहता है। बच्चों के मन में अवरोध (inhibition) नहीं रहता, इसलिए उनके मन में कोई भाव दमित या छिपा नहीं रहता। यदि उन्हें कोई डाँटे या मारे तो वे थोड़ी देर के लिए दुःखित हो जाते हैं और रो लेते हैं, किन्तु रोकर वे जल्दी ही ठीक हो जाते हैं और पुनः अपनी सहज स्वाभाविक प्रसन्नता की स्थिति में लौट आते हैं। मैत्रीभावना वाले व्यक्ति को भी किसी कारण वश आघात पहुँचे तो वह भी बच्चों की ही तरह थोड़ी देर के लिए दुःखी हो जा सकता है किन्तु उसे झेलकर जल्दी ही अपनी स्वाभाविक प्रसन्नता की स्थिति में लौट आता है। जो व्यक्ति मैत्रीभावना वाला नहीं है और फलतः कमजोर मन वाला है वह आघात पहुँचने पर स्थायी रूप से दुःखी हो जाता है और टूट जाता है। देखा जाता है कि ऐसे लोग स्थायी रूप से अवसादग्रस्त (depressed) हो जाते हैं और अवसाद से मुक्त होना उनके लिए कठिन हो जाता है। मैत्रीभावना के अभ्यासी को तो अवसाद (Depression) हो ही नहीं सकता।

(viii) शारीरिक स्वास्थ्य पर सकारात्मक प्रभाव

मैत्रीभावना का अभ्यास मानसिक स्वास्थ्य के लिए तो रामबाण है, साथ ही शारीरिक स्वास्थ्य पर भी इसका अनुकूल और सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। यह तो सभी जानते हैं कि मन का प्रभाव शरीर पर भी पड़ता है। शरीर पर मन का प्रभाव सामान्य रूप से तो पड़ता ही है, मैत्रीभावना के माध्यम से विशेष रूप से पड़ता है। इसका माध्यम बनता है शरीर की

अन्तःस्रावी ग्रंथियों (endocrine glands) से निकला हुआ रासायनिक स्राव जिसे 'हॉर्मोन' (Hormone) कहते हैं। शरीर शास्त्री जानते हैं कि शरीर में कुछ बहुत महत्त्वपूर्ण ग्रंथियाँ (glands) हैं जिनसे विभिन्न प्रकार के हार्मोन स्रवित होकर शरीर पर चामत्कारिक प्रभाव डालते हैं। इन ग्रंथियों से विभिन्न प्रकार के अच्छे और बुरे हॉर्मोन स्रवित होते हैं जो तदनुरूप अच्छा या बुरा प्रभाव डालते हैं। मानसिक भावों के साथ हार्मोन के स्राव का घनिष्ट सम्बन्ध है। बुरा भाव (क्रोध, घृणा, ईर्ष्या–द्वेष, भय विषाद आदि का भाव) आने पर खराब और विषाक्त हार्मोन स्रवित होता है और रक्त में मिलकर शरीर पर बहुत बुरा प्रभाव डालता है। इसके विपरीत अच्छा भाव (प्रेम, करुणा, दया, सहानुभूति, प्रसन्नता आदि का भाव) आने पर अच्छा हॉर्मोन स्रवित होता है और शरीर को पुष्ट करता है। इन सबमें प्रेम ऐसा भाव है जिसके आने पर सबसे अच्छा और लाभदायक हॉर्मोन स्रवित होता है और उससे शरीर को अनेक प्रकार से लाभ पहुँचता है। अतः मानसिक स्वास्थ्य के साथ साथ शारीरिक स्वास्थ्य के लिए भी मैत्रीभावना के अभ्यास के द्वारा हृदय में प्रेम का प्रवाह लाना आवश्यक है।

(ix) चेतना का विकास

यह भी मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक सत्य है कि अपने तक ही सीमित रहने वाले स्वार्थी व्यक्ति की चेतना विकसित नहीं होती, वह काफी हद तक पशुस्तर पर ही रहता है। किन्तु जो व्यक्ति दूसरों को भी अपना समझता है और उन्हें देने का भाव रखता है (अर्थात् मैत्रीभावना का अभ्यासी है) उसकी चेतना विकास करती है। चेतना के विकास एवं प्रेम में परस्पर सहकारी सम्बन्ध है, जैसे–जैसे चेतना का विकास होता है वैसे वैसे उसमें प्रेम का भाव बढ़ता है (क्योंकि प्रेम शुद्ध एवं विकसित चेतना का स्वाभाविक धर्म है), और जैसे जैसे प्रेम (मैत्रीभाव) का संवर्धन होता है वैसे वैसे चेतना का विकास होता है। बच्चे की चेतना प्रारंभ में अविकसित रहती है, वह प्रत्येक वस्तु (टॉफी, खिलौना) आदि अपने ही लिए ले लेता है, दूसरे बच्चों को नहीं देता अथवा दूसरे बच्चों से छीनने की कोशिश करता है और बच्चों में झगड़ा होता है। माँ–बाप बच्चे को टाफियाँ देते हैं और यदि एक टॉफी उससे माँगें तो वह उन्हें भी नहीं देता। ऐसा कहा जा सकता है कि बच्चे में प्रारंभ में स्वार्थ की मनोवृति होती है; इसीलिए यदि कोई बड़ा

व्यक्ति भी स्वार्थपूर्ण प्रवृत्ति दिखाता है तो कहा जाता है कि इसमें बचकानीपना (Childishness) है। बच्चे में दोनों तरह की प्रवृत्तियाँ होती हैं – उसमें जो सहज भोलापन (innocence) होता है उसे ''childlike'' (बालसुलभ) कहते हैं और उसमें जो संकुचित वृत्ति होती है उसे "childish" (बचकानी) कहते हैं। प्रारम्भ में बच्चा ''बचकानी'' (childish) प्रवृत्ति वाला होता है, किन्तु जैसे–जैसे वह बड़ा होता है वैसे–वैसे उसमें दूसरों को भी देने की प्रवृत्ति आती है। बच्चे में जितना ही अधिक दूसरों को अपना समझने और उन्हें देने का भाव आता है उतना ही उसकी चेतना विकसित होती है। तात्पर्य यह कि मैत्रीभावना (प्रेम) के अभ्यास से चेतना का तीव्र विकास होता है।

(x) वासनाओं का उदात्तीकरण

मैत्रीभावना के अभ्यास का एक बहुत बड़ा लाभ है वासनाओं का उदात्तीकरण (Sublimation of desries) जो अन्य किसी प्रयास से प्राप्त नहीं होतां। वासनाओं में सबसे सशक्त एवं महत्त्वपूर्ण वासना कामवासना (sex-desrie) है। यह महत्त्वपूर्ण इसलिए है क्योंकि यह शक्तिरूप (energy) है और यदि इसका सही उपयोग और सही अभियोजन (proper utilization and adjustment) नहीं हुआ तो यह व्यक्ति को मानसिक रोगी, पागल और अपराधी बना देगी; और यदि इसका सही रूपान्तरण (transformation) एवं उदात्तीकरण (sublimation) हो जाय तो यह जीवन में चमत्कार कर देगी, फिर व्यक्ति इससे जीवन के बड़े बड़े काम एवं सुन्दर काम कर सकेगा। अतः काम को हल्के में लेना और उसका सही अभियोजन करने का प्रयास न करना बहुत हानिकारक हो जाता है।

काम के अभियोजन या जीतने की एक विधा जो कई लोग अपनाते हैं वह है काम को स्वीकार न करना, उसका दमन करना या उसे मारने का प्रयत्न करना। किन्तु यह विधा कभी सफल नहीं होती। यह सफल तो नहीं ही होती वरन् इसका गम्भीर दुष्परिणाम भी होता है। दमित कामवासना हमारे अचेतन या अवचेतन मन (unconscious or subconscious mind) में प्रविष्ट हो जाती है और हमारे अनजाने ही हमारे व्यक्तित्व का विभाजन (dissociation of personality) कर देती है, हमें मानसिक रोगी (psychoneurotic) बना देती है और नाना प्रकार के पागलपन वाली

समस्याएँ उत्पन्न कर देती है। वास्तविकता यह है कि काम तो शक्ति (energy or power) है, उसे मारा या नष्ट नहीं किया जा सकता है, केवल उसका रूपान्तरण (transformation)या उदात्तीकरण (sublimation) किया जा सकता है। काम का सबसे सफल और सबसे शीघ्र रूपान्तरण प्रेम में होता है। प्रकृति में रूपान्तरण का नियम चलता है। पानी रूपान्तरित होकर वाष्प बन जाता है; मल–मूत्र युक्त खाद को पौधा अपनी जड़ के माध्यम से ग्रहण करता है किन्तु उसे रूपान्तरित कर फूल, फल एवं अन्न के रूप में प्रदान करता है। जिस मलमूत्र युक्त दुर्गंध भरी खाद को हम खाना क्या छूना भी पसन्द नहीं करते वही जब पौधे के द्वारा रूपान्तरित होकर फूल के रूप में आती है तो सुगन्ध देने लगती है तथा फल और अन्न के रूप में आती है तो खाद्य बन जाती है।

रूपान्तरण का यह नियम केवल बाह्य प्रकृति में ही नहीं चलता वरन् अन्तः प्रकृति अर्थात् चेतना के क्षेत्र में भी चलता है। गंदी कही जाने वाली कामवासना प्रेम के रूप में बदलकर उदात्त हो जाती है। काम प्रेम बन जाता है, और काम को प्रेम बनाना प्रकृति की मर्जी पर निर्भर नहीं वरन् हमारे हाथ में है। मैत्रीभावना के अभ्यास से हम काम को प्रेम बना सकते हैं। जिस स्त्री या पुरुष के प्रति काम आता है या आ सकता है उसके प्रति मैत्रीभावना का अभ्यास किया जाय तो उसके प्रति काम आने की जगह प्रेम आएगा क्योंकि काम प्रेम बन जाएगा।

काम को जीतने का सबसे सरल और सफल उपाय है प्रेम (मैत्रीभावना) का अभ्यास। जो लोग भी काम को जीतने में सफल होते हैं वे उदात्तीकरण की इसी विधा से होते हैं; काम का दमन कर काम को नहीं जीता जा सकता। प्रेम पवित्र वस्तु है और साथ ही काम की तुलना में बहुत अधिक आनन्ददायक है। अतः जब काम प्रेम के रूप में उदात्त हो जाता है तो वह पवित्र भी हो जाता है और अधिक आनन्ददायक भी हो जाता है। मैत्रीभावना का यह बहुत बड़ा लाभ है कि इससे काम उदात्त होकर प्रेम बन जाता है।

(xi) कार्यकुशलता एवं प्रतिभाशक्ति का विकास

जैसे प्रकाश और गर्मी सूर्य के स्वाभाविक गुण हैं वैसे ही कार्यकुशलता

एवं प्रतिभा की शक्ति चेतना (आत्मा) के स्वाभाविक गुण हैं। बादल लगे होने पर सूर्य का प्रकाश नहीं आ पाता और जैसे जैसे बादल छटते हैं वैसे वैसे सूर्य का प्रकाश स्फुटित हो जाता है, उसी प्रकार चेतना के ऊपर स्वार्थ और अहंकार का आवरणमल पड़ा होने से प्रतिभाशक्ति प्रकटित नहीं हो पाती और मलावरण हटने पर वह प्रस्फुटित हो जाती है। मैत्रीभावना का अभ्यास स्वार्थ और अहंकार के मलावरण को हटा देता है और फिर भीतर से प्रतिभा प्रस्फुटित होती है। स्वार्थी लोगों को प्रतिभाशील होते प्रायः नहीं देखा जाता है। यदि कोई प्रतिभाशील है (पूर्वजन्म के संस्कारों के कारण या अन्य कारण से) किन्तु स्वार्थी है तो उसकी प्रतिभाशक्ति धीरे धीरे कुंठित हो जाती है। उदारहृदय प्रेमी व्यक्तियों में ही प्रतिभा और कार्यकुशलता देखी जाती है और ऐसे ही लोग जीवन में सफल होते देखे जाते हैं।

जीवन में विशेषतः वृत्ति विषयक (professional)कार्यों में, सफलता के लिए प्रतिभा एवं कार्यकुशलता की बहुत बड़ी भूमिका है। मैत्रीभावना के अभ्यास से इसकी प्राप्ति होने में सहायता मिलती है, क्योंकि मैत्रीभाव स्वार्थ एवं अहंकार का मलावरण हटा देता है और परिष्कृत चेतना की स्वाभाविकी प्रतिभाशक्ति प्रस्फुटित हो जाती है।

(xii) नेतृत्व क्षमता का विकास

आजकल नेतृत्व क्षमता पर बहुत शोध–कार्य हो रहा है और नेतृत्व–क्षमता के विकास के लिए प्रशिक्षण कार्यक्रम (Leadership Training Programme) चलाया जा रहा है। किसी समाज या वर्ग की समुन्नति के लिए अच्छे नेतृत्व की आवश्यकता होती है, साथ ही किसी व्यापारिक प्रतिष्ठान के मुखिया या शासन तंत्र के अधिकारी या सैन्य अधिकारी में भी नेतृत्व–क्षमता की आवश्यकता होती है। नेता के अनेक गुण होते हैं और उसे अनेक प्रकार से अपने को प्रशिक्षित करना होता है। किन्तु नेता का जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण गुण है वह है साथ चलाए जाने वाले लोगों के प्रति प्रेम अर्थात् मैत्रीभावना। जो नेता स्वार्थी और अहंकारी होता है और अपने ही अनुसार सबको चलाना चाहता है वह अधिनायक (Dictator) जैसा व्यवहार करने लगता है और फलतः उसके अनुयायी अन्ततः उसका साथ छोड़ देते हैं। किन्तु जो नेता, मुखिया या अधिकारी अपने साथियों या

मातहतों को प्यार करता है और उन सबका हित चाहता है वह उन सबका प्रिय बन जाता है और सब स्वाभाविक रूप से उसके अनुयायी बन जाते हैं। उन्हें यह विश्वास रहता है कि हमारा नेता केवल अपने हित की ही बातें नहीं करेगा वरन् हम सबका हित चाहेगा; अतः वे नेता को स्वीकार करते हैं और उसके कहे अनुसार चलते हैं।

नेता तभी नेता होता है जब अनुयायी उसे स्वीकार करें, और उसको लोग स्वीकार तभी करते हैं जब वह सबको प्यार करता है अर्थात् सबका हित चाहता है। स्वार्थी व्यक्ति को कोई नेता स्वीकार नहीं करता चाहे वह कितना भी बड़ा या विद्वान आदि हो। कोई बिना पढ़ा–लिखा व्यक्ति भी नेता हो सकता है यदि उसमें प्रेम हो। अतः मैत्रीभावना का अभ्यास नेतृत्व–क्षमता लाने के लिए अति आवश्यक है।

(xiii) पारिवारिक एवं सामाजिक सौहार्द में वृद्धि

पारिवारिक एवं सामाजिक व्यवहार यदि केवल व्यापारिक सम्बन्धों पर ही आधारित हो तो उससे भौतिक कार्यों का सम्पादन भले ही हो जाय, पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन यांत्रिक (mechanical) एवं नीरस हो जाता है। किन्तु उसी के साथ यदि प्रेम और सौहार्द मिला हुआ हो तो पारिवारिक सामाजिक संबंध आनन्ददायक हो जाते हैं। यही बात आफिस, फैक्टरी, विद्यालय आदि में सहकर्मियों तथा सहपाठियों के साथ भी है। मैत्रीभावना के अभ्यास से ही यह भी सम्भव होता है। मैत्रीभाव के कारण सौहार्दपूर्ण व्यवहार "बोनस" (Bonus) के रूप में मिल जाता है।

इतना ही नहीं है कि पारिवारिक, सामाजिक एवं व्यापारिक जीवन में प्रेम एवं सौहार्द रहने से आनन्द की प्राप्ति होती है वरन् यह भी है कि भौतिक कार्यों के सम्पादन में भी सरलता आ जाती है। मशीन या गाड़ी के चक्का बेयरिंग आदि में (जहाँ घर्षण होता है) तेल डालने से "लुब्रिकेसन" (Lubrication) हो जाता है और फलतः मशीन या गाड़ी निर्बाध एवं हलका चलती है; 'लुब्रिकेसन' न होने पर भारी चलती है और चूँ चूँ – चररमरर करती है। इसी प्रकार प्रेम (मैत्रीभावना) चिकनाई देने वाले तेल (lubricating oil) का काम करता है जिससे जीवन की गाड़ी सुखपूर्वक चलती है। यह दिलचस्प बात है कि 'प्रेम' का ही दूसरा पर्याय है स्नेह और स्नेह का एक अर्थ तेल भी होता है। 'स्नेह' (प्रेम) जीवन का तेल है। इसके अभाव

में पारिवारिक, सामाजिक एवं व्यापारिक जीवन कटुतापूर्ण और तनावग्रस्त हो जाता है तथा नाना प्रकार की समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं और फलतः जीवन दुःखी रहता है।

(xiv) भौतिक सुख–समृद्धि

मैत्रीभाव से केवल मानसिक सुख–शान्ति एवं मानसिक अभिवृद्धि ही नहीं होती वरन् भौतिक अभिवृद्धि भी होती है। मैत्रीभावना से जीवन में भौतिक सुख–समृद्धि आने के दो कारण हैं। पहला कारण है कि ईश्वरीय कर्म–नियम जिसे वैदिक साहित्य में "ऋत" कहा गया है जो विश्व की नैतिक व्यवस्था का नियम (Law of Moral Governance of the World) है; उसके अनुसार जो जैसा भाव रखता है और कर्म करता है वैसा ही पाता है ("As you sow, so you reap" - "जैसा बोना वैसा काटना)। इसी दृष्टि से यह कहावत प्रसिद्ध है – "कर भला, हो भला"। मैत्रीभावना में हम दूसरों का भला सोचते हैं और भला करते हैं। इसका 'ऋत' वाला नैतिक फल यह होता है कि हमारा स्वयं का लाभ होता है। जो व्यक्ति दूसरों के सुख की चिन्ता करता है उसके सुख की चिन्ता भगवान करते हैं (या भगवान की जगह कहा जाएगा कि प्रकृति करती है)।

उक्त तर्क के विरोध में कोई कह सकता है कि ऋत वाला जो नैतिक–आध्यात्मिक कारण कहा जा रहा है वह तो विश्वास पर आधारित है, वह सत्य हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है। मैत्रीभावना से भौतिक वृद्धि के इस कारण को यदि नहीं भी मानें तो दूसरा कारण भौतिक जगत का ही है जो प्रत्यक्ष है और जिसे मानने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। मैत्रीभावना के अभ्यास से परिवार एवं समाज में प्रेम एवं सौहार्द की स्थापना होती है, फलतः हम दूसरे से ईर्ष्या–द्वेष नहीं करते और दूसरे की वृद्धि में बाधक नहीं बनते, वरन् हममें परस्पर सहयोग की भावना होती है और हम मित्रभाव से एक दूसरे की अभिवृद्धि में सहायता करते हैं। इससे सबका फायदा होता है। यह तो स्पष्ट ही है कि लड़ाई से दोनों पक्षों की हानि होती है और इसके विपरीत प्रेम और सहयोग के भाव से दोनों पक्षों का लाभ होता है। इस प्रकार मैत्रीभावना का अभ्यास भौतिक विकास

में भी कारक बनता है।

(xv)भावनात्मक आत्म–निर्भरता (Emotional Independence)

अधिकतर लोग भावनात्मक दृष्टि से परतन्त्र या परावलंबी होते हैं, प्रेम में आत्मनिर्भर नहीं होते। इसका तात्पर्य यह है कि वे दूसरों से प्रेम पाना चाहते हैं और नहीं मिलने पर दुःखी होते हैं। बहुत से माँ–बाप अपने बच्चों से प्रेम और सेवा न पाने की शिकायत करते हैं और इससे दुःखी रहते हैं। कई युवक युवती प्रेम में असफल होने पर (अर्थात् अपने प्रेमी या प्रेमिका से प्रतिदान न मिलने पर) अवसाद ग्रस्त हो जाते हैं, यहाँ तक कि कुछ ऐसे व्यक्ति आत्महत्या भी कर लेते हैं। किन्तु इस स्थिति का कारण प्रेम नहीं है वरन् मोह या आसक्ति है जो वस्तुतः स्वार्थ का ही प्रच्छन्न रूप है। प्रेम तो देने का नाम है और आसक्ति लेने का नाम है। जो वास्तविक प्रेमी है वह देता है और देने में ही उसको परम तृप्ति मिलती है, देकर वह मस्त रहता है। मैत्रीभावना का अभ्यास हमें प्रेम में आत्मनिर्भर बना देता है। जो हमको नहीं प्यार करता हम उसको भी प्यार करते हैं। केवल यही नहीं कि हमें नहीं प्यार करने वाले को भी हम प्यार देते हैं वरन् जो हमें घृणा करता है और हमारा विरोधी है, उसे भी प्यार देते हैं। दूसरों को प्रेम देकर हम स्वयं में इतना तृप्त रहते हैं कि दूसरों से प्रेम पाने की आवश्यकता ही नहीं रहती। इसका कारण है कि प्रेम देने में जो सुख है उसकी तुलना में प्रेम पाने का सुख कुछ भी नहीं है।

यह भी देखा जाता है कि जो व्यक्ति भीतर से स्वार्थी होते हैं और दूसरों को प्रेम नहीं देते ज्यादातर वे ही लोग प्रेम न पाने की शिकायत करते हैं, ऐसे लोगों को प्रेम मिलता भी नहीं। जो प्रेम करता है उसी को प्रेम मिलता भी है; यह बात अलग है कि उसको प्रेम पाने की आवश्यकता नहीं होती, उसकी पूर्ति तो प्रेम देने में ही हो जाती है। जो माँ–बाप बच्चों से प्रेम न पाने की शिकायत करते हैं वे इस मनःस्थिति में नहीं पहुँचे होते कि बच्चों का सुख ही हमारा सुख है। वैसे, जो माँ–बाप सही अर्थ में अपने बच्चों को प्रेम (मैत्रीभावना) करते हैं, उन्हें बच्चे भी प्यार करते हैं; यदि न भी करें तब भी उनपर कोई फर्क नहीं पड़ता है, वह शिकायत नहीं करते, वे प्रेम में आत्मनिर्भर होते हैं। मैत्रीभावना का अभ्यास भावनात्मक आत्मनिर्भरता

ला देता है जो सुखी रहने के लिए बहुत आवश्यक है।

(xvi) मैत्रीभावना से आत्मप्राप्ति (मोक्ष प्राप्ति)

भारतीय मूल्य चिंतन (जिसे "पुरुषार्थ" की अवधारणा कहते हैं) में चार की संख्या में तीन कोटियों के मूल्य स्वीकार किए गए हैं। अर्थ और काम भौतिक कोटि के मूल्य हैं, धर्म नैतिक मूल्य है और मोक्ष (मुक्ति) आध्यात्मिक मूल्य है। मोक्ष आत्मा के वास्तविक स्वरूप की प्राप्ति का नाम है, इसीलिए उसे आत्मप्राप्ति या आत्मानुभूति (Self-realisation) कहते हैं। आत्मप्राप्ति (मोक्ष) की स्थिति में बाकी दोनों कोटियों के मूल्य (अर्थ और काम एवं धर्म) सहज स्वाभाविक रूप से प्राप्त हो जाते हैं तथा साथ ही आत्मप्राप्ति की स्थिति सर्वग्राही (all-encompassing) एवं समग्रात्मक (Integral or holistic) है जिसमें सारा जगत समाहित है। इसी कारण आत्मप्राप्ति को जीवन का सर्वोच्च मूल्य या 'परम पुरुषार्थ' (Summum bonum of life) कहा जाता है।

भारतीय वाङमय में जहाँ मोक्ष (आत्म प्राप्ति) की चर्चा है (वेद, उपनिषद, गीता, पुराण, महाकाव्य, आदि) वहाँ मोक्ष का उपाय अद्वैतभाव (अभेदभाव) बताया गया है जिसका अर्थ है द्वैत या भेद (परायापन) का अभाव। इसका पुनः अर्थ है सबको अपना समझना या सबमें अपने को देखना ("सर्वात्मभाव")। इसका स्पष्ट अर्थ है प्रेम (मैत्रीभावना)। यह बताया गया है कि आत्मा के ऊपर अज्ञान का बन्धन पड़ा हुआ है जिसके छूटने पर ही मोक्ष (आत्मानुभव) होता है। किन्तु अज्ञान को बौद्धिक अज्ञान मात्र नहीं माना गया है वरन् अज्ञान को स्पष्ट रूप से "द्वैतप्रथा" (द्वैतभाव या भेदभाव) अर्थात् परायापन का भाव के रूप में परिभाषित किया गया है ("द्वैतप्रथा तदज्ञानं तुच्छत्वात् बन्ध उच्यते")। अज्ञान हटने अर्थात् ज्ञानी होने का लक्षण स्पष्ट रूप से माना गया है कि ज्ञानी को सभी भूत–प्राणियों से अपने एकत्व (अपनत्व) की अनुभूति हो जाती है ("सर्वभूतात्मभूतात्मा") और फलतः वह सबका कल्याण सोचने और करने में लगा रहता है ("सर्वभूतहिते रताः")।

सबको अपना समझना (अद्वैतभाव या अभेदभाव) और सबका हित चाहना यही तो मैत्रीभावना है जो आत्मप्राप्ति (मोक्ष) का साधन है। स्पष्ट है कि मैत्रीभावना का अभ्यास केवल मानसिक स्वास्थ्य एवं सुख ही नहीं प्रदान करता वरन् जीवन के परमपुरुषार्थ मोक्ष (आत्म प्राप्ति या आत्मानुभूति) की भी प्राप्ति कराता है।

(xvii) मैत्रीभावना से दूसरों का लाभ

जैसा कि पहले दिखाया जा चुका है, मैत्रीभावना का लाभ तो मुख्यतः अपने को ही (अर्थात् मैत्रीभावना करने वाले को) होता है, किन्तु मैत्रीभावना का स्वरूप ही ऐसा है कि इससे दूसरों का (अर्थात् मैत्रीभावना दिया जाने वालों का) भी लाभ होता है। वस्तुतः मैत्रीभावना में श्रेय (good) और प्रेय (pleasant) का, अपना हित और दूसरे का हित – इन दोनों का स्वाभाविक समन्वय है। दूसरों के उपकार में किए जाने वाले कार्यों में प्रायः दूसरे का हित (श्रेय) करने के लिए हमें अपना हित (प्रेय) दबाना या त्यागना पड़ता है और स्वयं कष्ट झेलना भी पड़ सकता है। किन्तु मैत्रीभावना देने में अपने को न तो कोई कष्ट झेलना पड़ता है और न कोई हानि उठानी पड़ती है, वरन् उलटे इसमें अपने को आनन्द मिलता है और अपना लाभ होता है; मैत्रीभावना का देना ऐसा देना है जिस देने में मिलना है, खर्च करने में ही बढ़ना है ("व्यये कृते वर्द्धत एवं नित्यम्")। इसीलिए कहेंगे कि मैत्रीभावना मनुष्य के लिए प्रकृति का बहुत बड़ा वरदान है।

यह प्रश्न हो सकता है कि दूसरों का लाभ तो तब होगा जब मैत्रीभावना से प्रेरित होकर हम उनका कोई प्रत्यक्ष उपकार कार्य करें, किन्तु केवल भावना करने से क्या उपकार होगा? कुछ करें नहीं और केवल मन में कल्पना करें तो इससे क्या होगा? इसके उत्तर में यह समझना होगा कि कल्पना या विचार (चिन्तन या विमर्श या भावना) भले ही दिखाई देने वाली वस्तु नहीं है किन्तु इसमें बहुत ताकत होती है; कल्पना (विमर्श) स्वयं शक्तिरूप है। (तंत्र–दर्शन में माना जाता है कि विमर्श शक्ति है और विमर्श–शक्ति से ही जड़ जगत का भी निर्माण हो जाता है।)

हम मन में जो सोचते हैं या भावना करते हैं वह हमारे मन या मस्तिष्क तक ही सीमित नहीं रहता। विचार की तरंगें होती हैं और वे तरंगें मस्तिष्क से निकलकर वातावरण में फैलती हैं। रेडियो एवं टेलीविजन की तरंगें दिखाई नहीं देती हैं किन्तु अदृश्यरूप में और सूक्ष्म रूप में ही वे त्वरित गति से वातावरण में फैलती हैं और रेडियो सेट और टेलीविजन सेट के द्वारा ग्रहण कर ली जाती हैं। उसी प्रकार विचार या भावना (मैत्रीभावना) की तरंगें मस्तिष्क से निकलकर वातावरण में प्रवाहित होती हैं। प्रयत्नपूर्वक

(इच्छापूर्वक) भावना को किसी व्यक्ति को लक्ष्य कर उसके प्रति सम्प्रेषित किया जा सकता है और जितनी ही ताकत (force) के साथ भावना को सम्प्रेषित किया जाएगा उतना ही उसका प्रवाह–बल (voltage) बढ़ जाएगा।

कोई व्यक्ति हमसे बहुत दूर बैठा है, किन्तु हम अपने मन में उस व्यक्ति को लक्ष्य कर मैत्रीभावना सम्प्रेषित करते हैं तो हमारी भावना की तरंगें जाकर उसके मस्तिष्क को छूती हैं और प्रभावित करती हैं। जब हम भावना करते हैं कि वह व्यक्ति भला जो जाय ताकि सुखी होवे तो उसका अवचेतन मन (subconscious mind) हमारी भावना से प्रभावित होकर भला बनने की ओर उन्मुख होता है। वह कितना प्रभावित होगा यह कई बातों पर निर्भर करता है। हम जितनी शक्ति (force) के साथ भावना भेजेंगे उतना ही प्रभाव अधिक होगा। दूसरे, हम बिना अपने किसी स्वार्थ के केवल उसके हित के लिए भावना भेजेंगे तो उसका मन इसे सरलता से ग्रहण कर लेगा; हम अपने किसी स्वार्थ के लिए भावना देंगे तो प्रभाव नहीं होगा (अपने स्वार्थ के लिए दी गई भावना तो मैत्रीभावना होगी ही नहीं)। तीसरे, उस व्यक्ति के मन में हमारी भावना के प्रति यदि प्रतिरोध (resistance) होगा तो प्रभाव कम होगा, प्रतिरोध न होने पर प्रभाव बढ़ जाएगा। कहीं देखने में लग सकता है कि मैत्रीभावना का कोई प्रभाव नहीं पड़ा, किन्तु मैत्रीभावना तो अपनी शक्ति के अनुसार प्रभावित करती ही है। इस बात को एक दृष्टान्त से समझा जा सकता है। कहीं आग लगी हो तो पानी डालने से उसका बुझना या न बुझना इस बात पर निर्भर करेगा कि आग की मात्रा कितनी है और उस अनुपात में पानी की मात्रा कितनी है। यदि पूरा मकान जल रहा हो और हम उसमें एक लुटिया (या एक ग्लास) पानी डालें तो नतीजा कुछ नहीं नजर आएगा, किन्तु लुटिया के पानी ने अपनी मात्रा के अनुसार तो अपना काम किया ही। वही यदि थोड़ी चिन्गारी होती तो लुटिया के पानी से बुझ गई दीखती। बड़ी मात्रा की आग को बुझाने के लिए बड़ी मात्रा में पानी देना होगा। यही बात भावना के क्षेत्र में भी लागू होगी। तात्पर्य यह कि हमारी मैत्रीभावना तो हर हालत में अपना कार्य करेगी ही, पूरी सफलता मिलना तो उपर्युक्त कई बातों पर निर्भर है।

प्रेम से दूसरे में सुधार लाया जा सकता है, और प्रेम से ही सुधार

लाया जा सकता है। दण्ड द्वारा भी सुधार होता है, किन्तु दण्ड द्वारा भी सुधार तभी होता है जब दण्डित व्यक्ति के प्रति शत्रुता का भाव न होकर अपनत्व का भाव हो अर्थात् प्रेम हो। निष्प्रेम दण्ड तो विद्रोही बना दे सकता है। मैत्रीभावना के द्वारा दूसरे में वांछित परिवर्तन लाया जा सकता है। इस संदर्भ में लेखक ने एवं लेखक के गुरु प्रोफेसर लालजी राम शुक्ल ने अनेक सफल प्रयोग किए हैं। लेखक के अनुभव में आई एक घटना का यहाँ उल्लेख कर देना प्रासंगिक होगा। लेखक के द्वारा चलाए जा रहे एक मैत्री कार्यक्रम में एक व्यक्ति ने शिकायत की कि आफिस में काम करने वाला इसका एक सहकर्मी इससे विरोध–भाव रखता है, बुलाने पर भी बोलता नहीं है, चलते समय सामना होने पर आँखें फेर लेता है और रास्ता बदल देता है, आदि आदि। लेखक ने उसे सलाह दी कि रोज रात को सोते जाते समय अपने सहकर्मी का ध्यान कर उसे मैत्रीभावना देवे। थोड़े ही दिनों के बाद इस व्यक्ति ने लेखक को अपने सहकर्मी के विषय में इन शब्दों में रिपोर्ट दी – "आज गजब हो गया। आज मैं सीढ़ी से चढ़ रहा था तो वह उतर रहा था। ऐसी स्थिति में तो अन्य समय वह मुझे देखकर मुँह फेर लेता था, लेकिन आज उसने मुँह नहीं फेरा और मुझे देखकर मुस्कराया और मुस्कराते हुए ही आगे बढ़ गया, उसके हाव–भाव से विरोध का भाव आज नहीं झलक रहा था"। कहना न होगा कि मैत्रीभावना के प्रभाव से सहकर्मी में परिवर्तन आया और उसका विरोध–भाव जाता रहा। इस व्यक्ति ने अपना मैत्रीभावना का अभ्यास जारी रक्खा, बल्कि और बढ़ा दिया। कुछ दिनों के बाद इसने लेखक को पत्र द्वारा सूचित किया कि अब वे दोनों अच्छे मित्र बन गए हैं और साथ–साथ प्रेम पूर्वक काम करते हैं।

मैत्रीभावना से दूसरों में सुधार आने एवं उनमें सकारात्मक परिवर्तन होने से उनका लाभ होता ही है, मैत्रीभावना से एक और लाभ हम दूसरों को पहुँचाते हैं। सभी को जाने या अनजाने प्रेम की भूख होती है, लोग चाहते हैं कि उन्हें प्रेम मिले और प्रेम मिलने से वे प्रसन्न और तृप्त होते हैं। कहा जाता है कि भगवान भी प्रेम का भूखा है, भक्त लोग प्रेम देते हैं तो भगवान को अच्छा लगता है। जीव–जन्तु भी प्रेम चाहते हैं, आदमी तो चाहता ही है। हम किसी को कोई भौतिक वस्तु न भी दें किन्तु प्रेम दें तो उसे अच्छा लगेगा और वह तृप्ति का अनुभव करेगा। इसलिए प्रेम देना भी

एक उपकार है और हम केवल प्रेम देकर भी दूसरों की सेवा करते हैं।

बच्चों को तो प्रेम देना उनके विकास के लिए बहुत आवश्यक है। बच्चे को सही प्यार मिलता है (गलत दुलार नहीं; love, not pampering) तो बच्चे का मानसिक–बौद्धिक विकास तो होता ही है, साथ ही नैतिक–आध्यात्मिक विकास भी होता है। यदि बच्चे को हम सही अर्थों में प्रेम करें तो वह गलत रास्ते पर जा ही नहीं सकता।

आजकल बहुत से माँ–बाप अपने व्यापारिक कार्यों में इतना व्यस्त रहते हैं कि उन्हें बच्चों के साथ प्रेम का इजहार करने का समय ही नहीं मिलता। इसका बच्चों पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता। साथ ही पारिवारिक जीवन यांत्रिक (mechanical) हो जाता है और उसमें कोई रस नहीं रह जाता। बच्चों एवं परिवार के अन्य सदस्यों को प्यार देकर हम उनका बहुत कल्याण करते हैं। उन्हें प्यार देना हमारा प्रथम कर्तव्य भी है। इसीलिए मैत्रीभावना का अभ्यास अपने सबसे नजदीकी वृत्त – परिवार – से प्रारंभ किया जाता है।

(xviii) समाज में मूल्य–चेतना (Value-consciousness) का विकास

वही समाज समुन्नत और सुखी होता है जिसमें मूल्यों की चेतना (Value-consciouness) होती है। मैत्रीभावना समाज में मूल्य चेतना लाने का अच्छा साधन है। आज के भारतीय समाज में मूल्यों का संकट (Value-crisis) है। मूल्यहीनता के कारण चारों ओर भ्रष्टाचार फैला है। इससे समाज का विकास अवरुद्ध है। मैत्रीभावना के माध्यम से समाज में मूल्य–चेतना जागृत की जा सकती है।

इसके लिए आवश्यक है कि केवल एक दो इक्का दुक्का व्यक्ति ही अलग अलग समाज को मैत्रीभावना न दें वरन् कई लोग एक साथ मिलकर समवेत (collective) रूप में समाज के लिए मैत्रीभावना संप्रेषित करें। पिछले पृष्ठों में "समवेत (collective) मैत्रीभावना का अभ्यास" शीर्षक के अन्तर्गत यह चर्चा हो चुकी है कि जब एक साथ कई लोग मिलकर मैत्रीभावना करते हैं तो मैत्रीभावना का प्रवाहबल (voltage) और उसका मात्रा–बल (quantum) बहुत बढ़ जाता है। फलतः उसकी प्रभाव–शक्ति बढ़ जाती है। यदि कई वृन्द (group) स्थान स्थान पर समाज के लिए

गहन मैत्रीभावना करें तो एक ओर उनका स्वयं का कल्याण होगा और दूसरी ओर समाज का मानस बदल जाएगा। समाज की नैतिक–आध्यात्मिक चेतना जागृत हो जाएगी और जन–मानस में मूल्यों की स्थापना होगी। यह परिवर्तन आध्यात्मिक स्तर पर अदृश्य रूप में होगा। अतः मैत्रीभावना समाज–परिवर्तन और विश्वशान्ति का सशक्त साधन बन सकती है।

(xix) मैत्रीभावना के अभ्यास से दाम्पत्य जीवन की समस्याओं का समाधान

मनुष्य अकेला नहीं रहना चाहता है; वह अकेला रह भी नहीं सकता। उसकी आवश्यकताएँ (शारीरिक, भौतिक एवं भावनात्मक) ऐसी हैं कि उसे दूसरे की (या दूसरों की) आवश्यकता पड़ती ही है। ''परस्पर–निर्भरता''(Inter dependence) के सिद्धान्त के अनुसार परस्पर सहयोग के भाव से ही सुखी व्यक्ति, सुखी परिवार एवं सुखी समाज का निर्माण होता है।

भौतिक–आर्थिक आवश्यकता की पूर्ति से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है भावनात्मक (आत्मिक या आध्यात्मिक) आवश्यकता की पूर्ति, जिसका अर्थ है कि हम दूसरों को अपना समझकर उन्हें प्यार कर सकें। प्रेम विहीन व्यक्ति मानसिक तनाव में रहता है और मनोरोग का शिकार हो जाता है। व्यक्तिवादी जीवन–दर्शन अपनाने के कारण आज लोगों में मानसिक रोगों की वृद्धि हो रही है और हम पागलपन की ओर जा रहे हैं। हम भौतिक दृष्टि से सम्पन्न हों तथा मानसिक दृष्टि से पूर्ण स्वस्थ एवं सुखी हों इसके लिए आवश्यक है कि दूसरे भी हों जिनका हम सहयोग ले सकें और जिन्हें हम प्यार कर सकें। हमारे व्यक्तिगत कहे जानेवाले जीवन में भी दूसरों का महत्त्वपूर्ण स्थान है जिसकी अनदेखी कर हम स्वयं भी सुखी नहीं हो सकते।

जो साधक–सन्त एकान्त में रहकर दूसरों से कटकर अकेले रहते या साधना करते दीखते हैं वे भी सबके प्रति आत्मभाव (प्रेमभाव, मैत्रीभाव) रखकर सबके प्रति मन में ही मैत्रीभावना करते रहते हैं। शरीर से अकेला रहने पर भी वे मन में सारे विश्व को समाहित किए रहते हैं, उनके मन में सर्वात्मभाव रहता है। कोई भी व्यक्ति सब दृष्टि से अकेला हो जाने पर आनन्द की स्थिति में नहीं रह सकता। उपनिषद् में परम तत्त्व ब्रह्म

(परमात्मा) के विषय में काव्यात्मक भाषा में कहा गया है कि "वह अकेले आनन्द–रमित नहीं हुआ" ("स एकाकी न रेमे"), "तब उसने इच्छा किया कि एक हूँ अनेक हो जाऊँ, प्रजनन करूँ, अर्थात् अपने में से अनेक रूपों को पैदा करूँ" (तदैक्षत एकोऽहं बहुस्याम् प्रजायेय इति")। आगे वर्णन आया है कि वह एक रहते हुए ही अनेक भी बन गया ("रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव")। और जैसे माता अपने ही भीतर से बच्चों को जन्म देने के बाद अपने से अलग हुए बच्चों में अपने को ही देखती है (अर्थात् बच्चों के साथ उसका आत्मभाव होता है) वैसे ही परमात्मा अपने से अलग हुए तमाम रूपों में अपने को ही देखते हुए आनन्द–रमण करने लगा। आत्मरमण का सत्य यह है कि हम अपने अहं (ego) में ही सीमित न रहकर दूसरों में अपना प्रक्षेपण (projection)करते हैं और उनके प्रति तदात्मभाव (प्रेमभाव) में रहकर आनन्दरमण करते हैं। जो साधक आत्मभाव (सर्वात्मभाव) को प्राप्त कर लेते हैं वे इस परम प्रेम के आनन्द का उपभोग करते हैं। इसीलिए ऐसे व्यक्ति को बोधिसत्व–परम्परा में "प्रीति–भक्षक" ("पीतिभक्खा") अर्थात् "प्रेम का भोजन करने वाला" कहा गया है। गीता में जो "आत्मरति" की बात कही गई है "यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्...." उसका अर्थ "अहंप्रेम" (Narssicism नार्सिसिज्म) नहीं है (नार्सिसिज्म को मनोवैज्ञानिकों ने मनोरोग के रूप में माना है), वरन् उसका भी अर्थ विश्वात्मरति ही है जो गीता को पूरे संदर्भ में देखने से स्पष्ट हो जाता है।

उपर्युक्त बातों का तात्पर्य यह है कि मानसिक दृष्टि से स्वस्थ एवं सुखी रहने के लिए यह आवश्यक है कि दूसरों को भी आत्मसात् किया जाय और उनके साथ परस्पर सहयोग किया जाय जिसे सामाजिकता कहते हैं। जिस समाज में एकत्व, अपनत्व और परस्पर सहयोग का भाव नहीं है वह भीड़ है, समाज नहीं। भीड़ हमारी आवश्यकता नहीं है, समाज हमारी आवश्यकता है; जहाँ अलग रहने की बात कही गई है ("विविक्त सेवी" या "Far from the madding crowd") वहाँ भीड़ (crowd) से अलग रहने की बात कही गई है, समाज(society) से अलग रहने की नहीं।

समाज की इकाई है परिवार। एकत्व, अपनत्व एवं परस्पर सहयोग की शिक्षा परिवार से ही प्रारंभ होती है; हृदय के विकास का सशक्त साधन है परिवार, क्योंकि प्रेम की पहली शिक्षा परिवार से ही मिलती है। इसीलिए

भारतीय मनीषा ने गृहस्थधर्म को आदर्श माना है। संन्यास का भी वास्तविक आदर्श यह है कि एक ही परिवार में सीमित न रहकर सारे समाज को परिवार माना जाय। जो वास्तविक संन्यासी हैं उनके लिए सारा समाज ही उनका परिवार हो जाता है। (संन्यास की अवधारणा पर शोध–कार्य कर रही एक विदेशी प्रोफेसर महिला ने स्वामी गुरुशरणानन्द जी से पूछा – "आप कैसे संन्यासी हैं जो सभी स्त्री–पुरुषों और बाल–बच्चों में रमे रहते हैं?" स्वामी जी ने उत्तर दिया – "मैं तो बड़ा भारी परिवारी गृहस्थ हूँ और हमारे यहाँ परिवार नियोजन भी नहीं है; सारा समाज मेरा परिवार है"। महिला ने पुनः प्रश्न किया – "तो फिर आपने अपना घर–परिवार क्यों छोड़ दिया?"। स्वामी जीने उत्तर दिया – "इसलिए छोड़ा कि मेरी भावनाएँ एक ही परिवार में सीमित न रहें और मैं समाज के प्रत्येक व्यक्ति को अपने परिवार का अंग समझ सकूँ। मैंने अपने पुराने परिवार वालों को त्यागा कहाँ है? बस अंतर इतना ही है कि उनको भी मेरा प्रेम बाकी सब लोगों के बराबर ही मिलता है, अधिक नहीं")।

परिवार का प्रारम्भ होता है विवाह–सम्बन्ध से। अतः जीवन में विवाह–सम्बन्ध का बड़ा भारी महत्त्व है। पति–पत्नी के बीच प्रेम–प्रवाह होने से दोनों की भावनात्मक तृप्ति तो होती ही है, बच्चे होने पर बच्चों के प्रति प्रेम का प्रवाह होने से यह तृप्ति और भी बढ़ जाती है और पति–पत्नी का भावनात्मक विकास और भी तेज हो जाता है। तैत्तिरीय उपनिषद् के शिक्षा–बल्ली में जो समावर्तन संस्कार की चर्चा है अर्थात् विद्यार्थी जब गुरु के यहाँ पढ़ाई पूरी कर घर लौट रहा है तो गुरु जो उसे अन्तिम उपदेश देते हैं उसमें बहुत सी महत्त्वपूर्ण जीवनोपयोगी बाते बताते हैं, उसी में आगे शिष्य को कहते हैं कि लौटने के बाद गृहस्थ धर्म का पालन करना और "सन्तान–परम्परा को न तोड़ना" ("प्रजातन्तु मां व्यवच्छेत्सीः") अर्थात् विवाह करना और बच्चे पैदा करना।

विवाह–सम्बन्ध जीवन में अत्यंत महत्त्वपूर्ण होते हुए भी आजकल यह देखा जा रहा है कि अनेक विवाह–सम्बन्धों में पति–पत्नी के बीच कटुता आ जाती है और तलाक की नौबत आ जाती है। पति–पत्नी के बीच कटुता हो जाने के प्रायः दो प्रधान कारण दीखते हैं। एक कारण है पति–पत्नी के बीच किसी तीसरे का आ जाना (या आ जाने का संदेह

होना) और दूसरा कारण है दोनों के अहंकार का आपस में टकराना। हम इन दोनों समस्याओं पर क्रमशः विचार करेंगे और देखेंगे कि कैसे मैत्रीभावना के अभ्यास से इनका निवारण हो सकता है।

पति–पत्नी दोनों ही यह चाहते हैं कि मेरा पति या मेरी पत्नी मेरे अलावा किसी दूसरे पुरुष या दूसरी स्त्री से प्यार न करे। कभी–कभी ऐसा भी देखा जाता है कि पति स्वयं अन्य स्त्रियों से सम्बन्ध रखता है किन्तु अपनी पत्नी से चाहता है कि वह पतिव्रता रहे। ऐसा ही कभी–कभी पत्नी के साथ भी होते देखा जाता है। यह मानव स्वभाव की स्वार्थपूर्ण दुर्बलता है। इसका समाधान यह नहीं है कि पति–पत्नी एक दूसरे को छूट दे दें वरन् इसका समाधान है कि परस्पर मैत्री–भावना के अभ्यास से इस दुर्बलता से ऊपर उठा जायें। दो के बीच तीसरा आ जाने से मानसिक तनाव होना और वैवाहिक जीवन में कटुता आ जाना स्वाभाविक है। किन्तु समस्या यह है कि किसी अन्य सुन्दर पुरुष या स्त्री को देखकर उसके प्रति आकर्षण होना भी स्वाभाविक है। किन्तु इस समस्या का समाधान भी है। स्वाभाविक या प्राकृतिक (natural) भावना का निवारण भी अन्य प्राकृतिक भावना से सफलतापूर्वक हो जाता है, ऐसा प्रकृति के नियमों में ही है। मैत्रीभावना प्रकृति के उसी नियम में है।

समस्या के निवारण में सुविधा होगी यदि यह देख लिया जाए कि स्त्री–पुरुष के बीच आकर्षण का क्या मनोविज्ञान है और उसके कितने स्तर हैं। यह तो स्पष्ट ही है कि स्त्री–पुरुष के बीच प्रकृति ने स्वाभाविक आकर्षण दिया है। इस आकर्षण की व्याख्या के लिए दार्शनिक सिद्धान्त भी दिए गए हैं। उदाहरण के लिए तंत्र–दर्शन में यह बात बताई गई है कि परमशिव परमात्मा ने ही लीला के लिए अपने को स्त्री–पुरुष (शिव–शक्ति) इन दो रूपों में विभाजित कर लिया है। उसने जो संसार की सृष्टि की (या यों कहिए कि स्वयं ही सृष्टि भी बन गया) उसमें सभी जीव–प्रजातियों (species) में नर (male) और मादा (female) के रूप में बन गया। मानव प्रजाति में भी वह स्त्री और पुरुष के रूप में विभक्त हो गया। तंत्र–दर्शन के अनुसार ये दोनों एक ही व्यक्तित्व के आधे–आधे भाग हैं जो पुनः एक होकर पूर्ण व्यक्तित्व बनना चाहते हैं और इसीलिए वे एक दूसरे के प्रति आकर्षित होकर एक दूसरे में मिल जाना चाहते हैं।

स्त्री और पुरुष अलग – अलग अपने आप में आधे अधूरे हैं, दोनों को मिलाकर ही एक पूर्ण व्यक्तित्व बनता है, जिसे तंत्र में अर्द्धनारीश्वर प्रतीक से बताया गया है। अतः स्त्री–पुरुष (शिव–शक्ति) एक दूसरे के विरोधी नहीं वरन् एक दूसरे के पूरक हैं। तंत्र के अनुसार वस्तुतः ये एक ही व्यक्तित्व के दो अंग या दो रूप (aspects) हैं। स्त्री–पुरुष के विषय में तंत्र दर्शन की यह मान्यता कोरी कल्पना (speculation) या विश्वास मात्र नहीं है वरन् इसे अनुभव में देखा और समझा जा सकता है।

स्त्री और पुरुष के बीच प्रधान सम्बन्ध काम–भाव का है, किन्तु यह कामभाव तीन स्तरों पर प्रकाशित होता है या किया जा सकता है। प्रथम स्तर स्थूल जैविक (biological) एवं शारीरिक (physical) काम का है। इसमें प्रेम नहीं होता, केवल दैहिक कामोत्तेजना की पूर्ति होती है। इसे पाशविक स्तर कह सकते हैं। स्मरण रहे कि कुछ पशुओं में भी केवल शारीरिक काम न रहकर प्रेम भी होता है, किन्तु अधिकांश पशुओं में स्थूल शारीरिक स्तर का ही काम होता है, इसीलिए इसे पाशविक काम कहा जा रहा है।

काम का दूसरा स्तर (जो पाशविक स्तर से ऊपर है) स्त्री–पुरुष के बीच रागात्मक आकर्षण का है जिसे साहित्य में माधुर्य–भाव या प्रणय–भाव कहते हैं; अंग्रेजी में इसे 'रोमांस' (romance) कहते हैं। इसमें शारीरिक सम्बन्ध भी सम्भव है किन्तु प्रधान रूप से यह मानसिक स्तर पर रूमानी (romantic) रूप में होता है। यह शारीरिक पाशविक काम से सूक्ष्म होता है और इसमें पाशविक काम की तुलना में बहुत अधिक तृप्ति मिलती है।

काम का तीसरा स्तर शुद्ध प्रेम (मैत्रीभावना) का होता है। प्रकृति की यह बहुत बड़ी देन है कि स्थूल काम रूपान्तरित एवं उदात्त होकर शुद्ध प्रेम बन जाता है। (हम पहले अन्य संदर्भ में इसकी विस्तृत चर्चा कर चुके हैं कि विपरीत लिंग Opposite sex के प्रति मैत्रीभावना के अभ्यास से काम रूपान्तरित होकर शुद्ध प्रेम में बदल जाता है) प्रेम को काम का आध्यात्मिक स्तर कह सकते हैं। आध्यात्मिक काम (अर्थात् प्रेम) की दो बड़ी–बड़ी अच्छाइयाँ हैं। एक अच्छाई यह है कि इसमें शारीरिक एवं रूमानी स्तर के काम की तुलना में बहुत अधिक तृप्ति एवं शक्ति मिलती है। इसका अनुभव प्रेमी व्यक्ति ही कर सकता है, कामी व्यक्ति नहीं। आध्यात्मिक काम (प्रेम)

की दूसरी अच्छाई यह है कि इसमें स्वार्थ भाव न होने के कारण इससे किसी की हानि नहीं हो सकती। इसीलिए इसमें अनैतिकता नहीं होती। पहले के दोनों स्तरों के काम (शारीरिक एवं रूमानी काम) में स्वार्थभाव हो सकता है और उसमें दूसरों को पीड़ा पहुँच सकती है, इसलिए उसमें अनैतिकता हो सकती है। किन्तु प्रेम (जो आध्यात्मिक स्तर का काम है) इसके विपरीत है। इसमें प्रिय व्यक्ति के प्रति और प्रिय व्यक्ति से सम्बन्धित सभी व्यक्तियों के प्रति हितकामना की जाती है। इसीलिए प्रेम को पवित्र कहा गया है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि जो आध्यात्मिक स्तर का काम (अर्थात् शुद्ध प्रेम) जो मैत्रीभावना के अभ्यास में किया जाता है वही समस्या का समाधान है। जब हम परायी स्त्री या पराए पुरुष के प्रति मैत्रीभावना का अभ्यास करते हैं तो हमारा निचले स्तर (शारीरिक एवं रूमानी स्तर) का काम रूपान्तरित एवं उदात्त (sublime) होकर आध्यात्मिक काम बन जाता है अर्थात् शुद्ध प्रेम बन जाता है। इस अवस्था में किसी से विरोध की संभावना नहीं रह जाती।

यह बिलकुल सम्भव है (और कठिन भी नहीं है) कि मैत्रीभावना के अभ्यास से निचले स्तर का काम रूपान्तरित होकर प्रेम बन जाय। संस्कृत में कहावत के रूप में यह बात कही गई है कि ''एक ही व्यक्ति कान्ता का आलिंगन एक भाव से करता है और पुत्री का आलिंगन दूसरे भाव से करता है (''येनैवालिंगिता कान्ता तेनैवालिंगिता सुता'') कान्ता के आलिंगन में काम का भाव (शारीरिक एवं रूमानी) हो सकता है, किन्तु पुत्री के आलिंगन में वात्सल्य भाव होता है। वात्सल्य भाव का स्तर आध्यात्मिक है। अभ्यास के द्वारा सबके प्रति वात्सल्य भाव अथवा मातृत्व–पितृत्व भाव (filial love) स्थायी रूप से लाया जा सकता है। सन्त–महात्माओं में सभी स्त्री–पुरुषों के प्रति वात्सल्य–भाव होता है।

अतः जब पति–पत्नी के बीच तीसरा व्यक्ति आने की समस्या हो तो जो आसक्त हुआ है (पति या पत्नी) वह उस तीसरे व्यक्ति के प्रति गहन मैत्रीभाव का अभ्यास करे। इससे आसक्ति दूर हो जाएगी, पति या पत्नी का आसक्ति–भाव (राग–भाव) रूपान्तरित होकर उस तीसरे व्यक्ति के प्रति शुद्ध प्रेम के रूप में परिवर्तित हो जाएगा। फिर दूसरे पक्ष को (या

किसी भी पक्ष को) कोई एतराज नहीं होगा। ऐसा भी नहीं है कि आसक्त होने वाले पति या पत्नी को (तीसरे व्यक्ति के प्रति) अपने रागभाव को दबाना या मारना पड़ेगा, वरन् ऐसा होगा कि राग का रूपान्तरण हो जाएगा और आसक्त व्यक्ति भावात्मक दृष्टि से स्वतंत्र (emotionally independent) होकर परम तृप्ति और आनन्द का अनुभव करेगा तथा उस (तीसरे व्यक्ति) के सुख में सुखी होगा। ऐसा करने में त्याग करना भी नहीं है वरन् इसमें चेतना का स्तर ऊपर उठकर प्रेम के स्तर पर आकर पहले से अधिक आनन्द एवं तृप्ति की प्राप्ति होगी। जो सन्त–महात्मा होते हैं वे प्रेम सबको करते हैं, किन्तु उनकी आसक्ति किसी में नहीं होती। ऐसा नहीं है कि वे आसक्ति को मार डालते हैं वरन् उनकी आसक्ति प्रेम में परिवर्तित (रूपान्तरित) हो जाती है और वे आसक्ति से मुक्त रहते हैं। आसक्ति से मुक्त होना देखने में कठिन लग सकता है किन्तु वास्तव में यह कठिन नहीं है क्योंकि इसमें आसक्ति को मारना या जबरन त्याग करना नहीं पड़ता वरन् आसक्ति को प्रेम में बदल देना होता है। प्रेम (मैत्रीभावना) का अभ्यास करने पर आसक्ति अपने आप छूट जाती है और आसक्ति की तुलना में प्रेम में बहुत अधिक तृप्ति मिलती है।

दाम्पत्य जीवन में जो दूसरी समस्या आती है अहंकार के टकराव से पति–पत्नी में तनाव होना, अब उसपर विचार करें। अहंकार का मनोविज्ञान यह है (जिसकी चर्चा हम पहले भी कर चुके हैं) कि अहंकार में हम अपने को दूसरों से काट लेते हैं (अलग कर लेते हैं) और केवल अपने में ही अपने को सीमित कर लेते हैं, अर्थात् केवल अपने को ही अपना समझते हैं, दूसरों को अपना नहीं समझते। इसीलिए दर्शनशास्त्र में अहंकार को अलगाव (separation) एवं परिच्छिन्नता (limitation) का भाव कहा गया है। अहंकार से बहुत बड़ी हानि यह होती है कि हम दूसरों की कठिनाई नहीं समझते क्योंकि अपने को दूसरों की जगह रखकर नहीं देख पाते, हम अपने को ही देखते हैं और दूसरों पर भी अपने ही को लादना चाहते हैं। इसीलिए अपनी इच्छा के विपरीत होने पर क्रोधित हो उठते हैं। इसकी परिणति तनाव, कलह एवं मार–पीट तक में हो जाती है।

सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो अहंकार में स्वार्थ निहित होता है क्योंकि अहंकारी व्यक्ति अपने में ही सीमित रहता है, दूसरों का हित नहीं

देखता। वस्तुतः अहंकार और स्वार्थ एक ही मनोभावना के दो रूप हैं। प्रेम में हम दूसरों को भी अपना समझते हैं और उनका हित चाहते हैं। प्रेम और अहंकार एक दूसरे के विपरीत हैं; इसीलिए अहंकारी व्यक्ति प्रेमी नहीं हो सकता और प्रेमी व्यक्ति में अहंकार नहीं रह सकता; प्रेम में अहंकार गल जाता है। अहंकारी व्यक्ति का तथाकथित प्रेम भी स्वार्थ का ही एक रूप होता है, वह प्रेम होता ही नहीं।

पति या पत्नी या दोनों में जब अहंकार रहता है तो उनमें टकराव स्वाभाविक है। प्रायः प्रेम–विवाहों को असफल होते देखा गया है। विवाह के पहले ''रोमांस'' की स्थिति में एक दूसरे के प्रति आकर्षण रहता है और बड़ा अच्छा लगता है; किन्तु विवाह के बाद जब व्यावहारिक समस्याएँ आती हैं तो अहंकार अपना रूप दिखा देता है और वैवाहिक जीवन दुखद हो जाता है। वही प्रेम विवाह सफल होते हैं जहाँ प्रेमी समझदार हैं (और समझदार वही होते हैं जो वास्तविक प्रेमी होते हैं)।

अतः यदि वैवाहिक जीवन को सुखी बनाना है तो पति–पत्नी एक दूसरे के प्रति गहन रूप से मैत्रीभावना का अभ्यास करें। मैत्रीभावना के अभ्यास से अहंकार (और अहंकार का साथी स्वार्थ) गल जाता है। फिर पति–पत्नी एक दूसरे के सुख में अपना सुख देखने लगते हैं, एक दूसरे में अपने को डालकर एक दूसरे की कठिनाई या समस्या को समझते हैं और फिर आसानी से हल निकल आता है।

मैत्रीभावना के अभ्यास से केवल पति–पत्नी में ही नहीं वरन् परिवार के अन्य सदस्यों के बीच भी सौहार्द का भाव आता है और पारिवारिक जीवन सुखद हो जाता है। अतः परिवार के सभी सदस्यों को परस्पर मैत्रीभावना का अभ्यास करना चाहिए। अभ्यास करने में सहायता मिलेगी अगर एक घण्टे या आधे घण्टे का समय स्थिर कर लिया जाय और उस समय परिवार के सभी सदस्य एक साथ बैठें और मैत्रीभावना का समवेत अभ्यास करें। इस समय का उपयोग पारिवारिक समस्याओं पर लोकतांत्रिक (democratic)ढ़ंग से विचार करने में भी किया जा सकता है। बहुत से परिवारों में ऐसा होता है कि सभी सदस्य एक साथ कभी बैठते नहीं। अपना–अपना काम करना जितना आवश्यक है उससे कम आवश्यक नहीं है कि परिवार के सभी लोग थोड़ी देर के लिए एक साथ बैठें, मैत्रीभावना

का अभ्यास करें एवं पारिवारिक बातों पर विचार–विमर्श करें। इससे परिवार में एकता और प्रेम की स्थापना होगी और परिवार के सभी सदस्यों की सब प्रकार से अभिवृद्धि होगी। आज विश्व के सभी समाजों में परिवार के टूटने की समस्या व्याप्त है जिसके दुष्परिणाम तनावग्रस्तता, मानसिक टूटन, अवसाद और आत्महत्या तक के रूप में सामने आ रहे हैं। पहले संयुक्त परिवार होते थे, उनमें स्वाभाविक रूप से सदस्यों में मैत्रीभावना रहने की परिस्थिति बनती थी। संयुक्त परिवार के टूटने से व्यक्तियों के मानसिक स्वास्थ्य पर बहुत दुष्प्रभाव पड़ रहा है।

●

भक्तिभावना (आत्मविश्रान्ति योग) : मैत्रीभावना का सहायक अभ्यास

वैसे तो मैत्रीभावना अपने में पूर्ण और अति सशक्त अभ्यास है, फिर भी एक और आध्यात्मिक अभ्यास है जिसे करने से मैत्रीभावना में सहायता मिलती है और मैत्रीभावना अपने आप आने लगती है। इस अभ्यास या योग–साधना को विभिन्न नामों से जाना जा सकता है। जो लोग भगवान में विश्वास करते हैं उनकी दृष्टि से यह भक्तिभावना का अभ्यास है। ध्यान–योग की दृष्टि से इसे आत्म–विश्रान्ति योग कह सकते हैं। जैन परम्परा के 'प्रेक्षाभाव', सांख्य के 'द्रष्टा–भाव', वेदान्त के 'साक्षीभाव' और बौद्ध परम्परा के 'विपश्यना' के आधार में आत्मविश्रान्ति योग ही है। यह आत्म–समर्पण या आत्म–प्रशान्ति (self-relaxation) का योग है जिसमें 'अहं' (ego) का विलयन होता है।

इस योग को समझने के लिए इसके आधारभूत दार्शनिक सिद्धान्त को समझना होगा। इसे आत्मवाद या परमात्मवाद का सिद्धान्त कहते हैं। हमारी चेतना के भीतर अथवा आधार में एक वैश्विक चेतना (cosmic consciousness) है जिससे सभी व्यक्तिगत चेतनाएँ जुड़ी हैं। इसे समझने में सागर और लहर का दृष्टान्त सहायक होगा। सभी लहरों के आधार में एक ही महासागर है। लहर भी सागर का ही छोटा और व्यक्तिसीमित (individualized) रूप है, जो सीमित होने के कारण सागर से जुड़ा होते हुए भी अन्य लहरों से कट गया है। सागर को लहर का बड़ा रूप कह सकते हैं। यदि लहर अपने को शान्त कर दे अर्थात् सागर में समर्पण कर दे तो वह स्वयं महासागर बन जाएगी और सभी लहरों से उसका तादात्म्य हो जाएगा। लहर को ''छोटा मैं'' (lower self) और महासागर को लहर का ही ''बड़ा मैं'' (Higher self)कहा जा सकता है। सभी व्यक्तिगत चेतनाएँ लहरों की भाँति हैं और उन सबके भीतर रहने वाली विश्वात्मा महासागर की भाँति है। विश्वात्मा ''बड़ा मैं'' (Higher self) है और जीवात्मा ''छोटा मैं'' (lower self) है। यह विश्वात्मा या ''हायर सेल्फ'' ही भगवान है। भगवान का वास्तविक रूप विश्वात्मा ही है; अर्थात् भगवान हमारी ही

आत्मा है, अन्तर इतना ही है कि हम छोटी आत्मा हैं और भगवान हमारी बड़ी (परम आत्मा, परमात्मा) है।

यह विश्वात्मा भगवान (Cosmic Consciousness) अपने स्वातंत्र्य से अथवा भक्तों की आकांक्षा के अनुसार जो रूप चाहे धर लेता है, किन्तु अपने आप में इसका कोई रूप नहीं, यह निराकार है। यह सर्वव्यापी है इसलिए इसे 'ब्रह्म' कहते हैं (ब्रह्म का शाब्दिक अर्थ सर्वव्यापी है, विष्णु का भी शाब्दिक अर्थ सर्वव्यापी है)। यह भला या शुभ या मंगलमय है इसलिए इसे 'शिव' कहते हैं। जागतिक दृष्टान्त में जैसे विद्युत् धारा कोई ठोस वस्तु न होकर शक्तिरूप (Energy or power) है वैसे ही यह चेतना वैश्विक शक्ति (Energy) है, इसलिए इसे 'चित्–शक्ति' कहते हैं। चूँकि भगवान या विश्वात्मा हमारे भीतर हमारे ''बड़ा मैं'' (Higher Self) के रूप में स्थित है, इसलिए इसे आत्मा या परमात्मा (परम+आत्मा) कहते हैं। इसीलिए भगवान के प्रति समर्पण वस्तुतः अपनी आत्मा (Higher self) के प्रति समर्पण है।

माना जाता है कि इस आत्मतत्त्व को योगियों–ऋषियों (seers) ने अपने अनुभव में देखा है और पाया है कि आत्मतत्त्व सभी ज्ञान, आनन्द, शक्ति, सौन्दर्य और प्रेम का स्वाभाविक स्रोत है। किन्तु जैसे बादल के कारण सूर्य की किरणें पूरी तौर पर धरती पर नहीं आ पातीं, उसी प्रकार मलावरण के कारण आत्मा (परम आत्मा) का प्रकाश व्यक्तिगत चेतना में पूरी तरह नहीं उतर पाता। जैसे–जैसे आत्म–शुद्धि एवं अहंकार (ego) के समर्पण की साधना द्वारा मलावरण हटते जाता है, वैस–वैसे आत्मा का प्रकाश खुलने लगता है। जैसे प्रकाश एवं गर्मी सूर्य का स्वभाव या स्वरूप है उसी प्रकार प्रेम (सर्वात्मभाव), ज्ञान, आनन्द आदि आत्मा के स्वाभाविक धर्म हैं। इसीलिए जब हम आत्मा में प्रवेश करते हैं तो ये सब धर्म अपने आप हमें प्राप्त हो जाते हैं।

आत्म–विश्रान्ति योग के पीछे जो यह उक्त दार्शनिक सिद्धान्त है, उसका यह निहितार्थ हुआ कि भगवान (ईश्वर, God) कोई अलग से रहने वाली विदेशी (alien) सत्ता नहीं है जो किसी अन्य लोक में रहती है, वरन् वह लहरों के भीतर (या लहरों के आधार में) रहने वाले महासागर की भाँति हमारे ही भीतर रहने वाला हमारा बड़ा स्वत्व (Higher self) है। यह

जिस उपादान (material) या तत्त्व (substance) का बना है वह चेतना (चैतन्य, चिति, संवित्, consciousness, spirit) है। हम अपने सीमित 'अहं (ego) के कारण उससे अलग हो गए हैं किन्तु उपादान या तत्त्व (substance) की दृष्टि से हम उससे एक ही हैं। जैसे लहरें अपने व्यक्तिगत (individual) रूप के कारण सागर से अलग हैं किन्तु तत्त्व (जो जल है) उसके कारण वे सागर से एक हैं, उसी भाँति हम विश्वात्मा ईश्वर (परमात्म तत्त्व) से अलग होते हुए भी अलग नहीं हैं।

उक्त दार्शनिक सत्य का व्यावहारिक (practical) या साधनात्मक अर्थ यह है कि यदि हम (अर्थात् हमारा 'अहंकार', ego) इस परमात्म तत्त्व के प्रति समर्पण करें अर्थात् अपने 'अहं' (ego) के अनुसार न चलकर परम आत्मा (Higher self) के अनुसार चलें तो परमात्मा से हमारा अलगाव दूर हो जाएगा और हम परमात्मा के गुण–धर्म को प्राप्त कर लेंगे जिसे प्राप्त करना हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है। अहं (ego) का आत्मा (परम आत्मा, Higher self) में समर्पण ही आत्मविश्रान्ति योग है। इसे कई शब्दावलियों में कह सकते हैं, जैसे आत्मसमर्पण, आत्म–विश्राम (relaxing in the self), अहं का विलयन (लययोग), भगवान में समर्पण (भक्तियोग), ध्यान योग (Transcendental Meditation), ईश्वर प्रणिधान, आदि आदि। अपने को शान्त या प्रशान्त कर (या इस शब्दावली में कहिए कि अहं का समर्पण कर) हम अपने आत्मा (परम आत्मा, Higher self, God) में सुख पूर्वक विश्राम करते हैं। इसीलिए इसे आत्मविश्रान्ति योग कहते हैं। इसी को मलूकदास ने इस भाषा में कहा है – "मेरे सारे कर्तव्य–कर्म (सुमिरन) भगवान करते हैं, मैंने तो विश्राम प्राप्त कर लिया"–

"सुमिरन मेरा हरि करैं, मैं पायो विश्राम"।

यह जो आत्मविश्रान्ति की अवस्था है उसे ऐसा नहीं समझना चाहिए कि यह निष्क्रियता की अवस्था है। इसमें ऐसा होता है कि हम अपनी ओर से प्रयासपूर्वक कुछ भी नहीं करते किन्तु स्वाभाविक रूप से हमारे ही मन और शरीर द्वारा अपने आप क्रिया होती है। संकल्प द्वारा प्रयासपूर्वक किए गए ऐच्छिक कर्म से यह क्रिया भिन्न है। यह प्रयासहित (effortless) एवं स्वतःस्फूर्त (spontaneous) होती है। इसे तंत्रपरम्परा में "स्पन्द" कहते हैं। पारिभाषिक अर्थ में इसे "क्रिया" और "विमर्श" भी कहते हैं। इस स्थिति

में हमसब कुछ करते हुए भी कुछ नहीं करते हैं क्योंकि हमारे सारे कर्तव्य कार्य हमारे ही द्वारा अपने आप होते हैं। यह "कर्महीन क्रिया" (actionless activity) या "विश्रान्त क्रिया" (relaxed activity) या "स्वतःस्फूर्त क्रिया" (spontaneous activity) है। इसी स्थिति को गीता में कहा गया है – "वह कर्म में लगा हुआ भी कुछ नहीं करता है" ("कर्मण्यभि प्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चत् करोति सः") अथवा "मुझे उसका कर्ता होने पर भी अव्यय अकर्ता समझो" ("तस्य कर्तारपि मां विद्धयकर्तारमव्ययम्")। योगवासिष्ठ में भी गुरु बसिष्ठ राम को इसी अवस्था का उपदेश कर रहे हैं – "हे राघव, बाहर से बनावटी संकल्प (will) वाला और भीतर से संकल्प विहीन होकर, बाहर से कर्ता और भीतर से अकर्ता होकर, लोक में विहार करो" :

"बहिः कृत्रिमसंरम्भों हृदि संरम्भवर्जितः।
कर्ता बहिरकर्तान्तः लोके विहर राघव।।"

समाधि की भाषा में कर्मविहीन स्वाभाविकी क्रिया की इस अवस्था को "सहज समाधि" की अवस्था कहा गया है। सहज समाधि में हम अपनी आत्मा में स्थित रहते हैं और कुछ नहीं करते हैं, किन्तु साथ ही सारी क्रियाएँ सहज रूप से अपने आप हमारे ही द्वारा होती हैं। सहज समाधि का वर्णन करते हुए ("साधो सहज समाधि भली...........") कबीर आगे कहते हैं, "सभी कर्म हमारे द्वारा किए गए हैं किन्तु हम सभी कर्मों से अलग हैं" ("सिगरे कर्म हमारे कीये, हम कर्मनते न्यारे हो")।

तात्पर्य यह कि आत्मविश्रान्ति की अवस्था निष्क्रियता की अवस्था नहीं है वरन् इस अवस्था में पहले से भी अधिक क्रिया होती है। इसका कारण है कि स्वाभाविकी क्रिया (स्पन्द) आत्मा का स्वाभाविक धर्म है जो मलावरण के हट जाने पर अपने आप प्रस्फुटित होती है और इस अवस्था में हम एक साथ ही विश्रान्त (relaxed or resting) भी रहते हैं और सारी क्रिया हमारे द्वारा अपने आप होती भी रहती है। कृष्ण, बुद्ध, क्राइष्ट आदि इसी आत्मविश्रान्ति (सहज समाधि) की स्थिति में कार्य करते थे। सभी आत्मप्राप्त सिद्ध पुरुष इसी अवस्था में कार्य करते हैं। अगर भगवान मानें, तो भगवान का काम भी ऐसा ही होता है; उसका सृष्टि करने आदि का कार्य ऐच्छिक "कर्म" नहीं है (क्योंकि उसमें कोई अपूर्णता नहीं है) वरन् स्वतःस्फूर्त स्वाभाविकी "क्रिया" (स्पन्द) है। स्पंदित होना आनन्द का

स्वभाव है।

जब हम अपने आप में विश्रान्त रहते हैं और हममें स्वाभाविकी क्रिया (मानसिक और शारीरिक) होती रहती है तो हम इस क्रिया में आकर्षित (tempted) होकर लिप्त या आसक्त नहीं होते वरन् केवल दृष्टा भाव से देखते रहते हैं, अपनी ही क्रिया को भी तटस्थ भाव से देखते हैं, अपने भीतर हो रहे हल्ला (noise) को भी बिना फँसे सुनते रहते हैं। इसे साक्षीभाव या प्रेक्षाभाव या द्रष्टाभाव या विपश्यना कहते हैं। विपश्यना या साक्षीभाव आत्मविश्रान्ति की ही अवस्था है।

सर्वात्मभाव या मैत्रीभाव (प्रेम) का आत्मविश्रान्ति से तादात्म्य–सम्बन्ध है, क्योंकि प्रेम आत्मा का स्वाभाविक धर्म है। इसीलिए जब हम आत्मविश्रान्ति की अवस्था में आ जाते हैं तो प्रेम (मैत्रीभाव) अपने आप प्रवाहित होता है। इसीलिए संत–महात्माओं को प्रयास पूर्वक मैत्रीभावना का अभ्यास नहीं करना पड़ता है वरन् उनमें मैत्रीभाव (प्रेम) स्वाभाविक रूप से अपने आप प्रवाहित होते रहता है। अतः आत्मविश्रान्ति की साधना मैत्रीभावना की साधना में सहायक है।

हम आत्मविश्रान्ति को ही "भक्ति" (devotion to God or love of God) नाम से भी कह रहे हैं, इसका कारण यह है कि भक्ति का दार्शनिक अर्थ (जो भक्ति का वास्तविक अर्थ है) आत्म विश्रान्ति ही है। यदि भक्ति के बाह्य रूपों (पूजा–पाठ, कर्मकाण्ड आदि) को छोड़कर बुद्धिसंगत (rational) ढ़ंग से विचार कर देखें तो यह स्पष्ट होगा कि भक्ति का अर्थ भगवान के प्रति समर्पण कर भगवान में रहना है। अतः भक्ति भगवान में विश्राम करने (भगवद् विश्रान्ति) की अवस्था है। चूँकि भगवान हमारा ही आत्मा (परम आत्मा, परमात्मा) है, अतः भगवद् विश्रान्ति वस्तुतः आत्मविश्रान्ति (परमात्मविश्रान्ति) ही है। भगवान और परम आत्मा (परमात्मा, Higher Self) एक ही है। भगवान का जो पर्यायवाची शब्द "परमात्मा" है वह बहुत ही अर्थपूर्ण है; परमात्मा का अर्थ है बड़ा आत्मा या परे वाला (transcendental) आत्मा (परम आत्मा)। इसका तात्पर्य है कि भगवान मेरा ही परे वाला आत्मा या "बड़ा मैं" (Higher Self) है।

भक्तिभावना के अभ्यास से आत्मप्रविष्ट होने पर मैत्रीभावना तो अपने आप आएगी ही (क्योंकि प्रेम आत्मा का स्वाभाविक धर्म है), भक्ति से विश्व

के प्रति मैत्रीभावना होने का एक और भी कारण है। भक्ति में हम भगवान को प्रेम करते हैं और सबमें भगवान को देखते हैं। जब सारा जगत भगवान का ही है और भगवान हमारा है तो भगवान का जगत भी हमारा है। फिर हम किसी से दुश्मनी क्यों करेंगे? गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है

"निज प्रभुमय देखहिं जगत, केहि सन करहिं विरोध"

अथवा

"सीय राम मय सब जग जानी,
करहुँ प्रनाम जोरि जुग पानी।।"

भक्त यह जानता है कि सारा जगत प्रियतम प्रभु का ही रूप है, सब भगवान के ही बच्चे हैं, भगवान जगत को बनाकर उसमें अंदर निवास कर रहा है; अतः भक्त सम्पूर्ण जगत को आदर और प्रेम की दृष्टि से देखता है। इसीलिए यह देखा जाता है कि जो भगवान का वास्तविक भक्त होता है (दिखावटी और अहंकारी नहीं) वह सबको अपना समझता है और सबका हित चाहता है।

वैसे भी यह तर्कसंगत बात है कि यदि हम भगवान को प्रसन्न करना चाहते हैं तो उसके बच्चों को (अर्थात् सभी भूत प्राणियों को) प्यार करें। किसी माँ–बाप को प्रसन्न करने का सबसे अच्छा तरीका है उसके बच्चों को प्यार करना। यदि हम माँ–बाप को तो प्रसन्न करना चाहें किन्तु उसके बच्चों का अहित करें तो माँ–बाप कैसे प्रसन्न होंगे? अतः भक्त में तो विश्व प्रेम होना ही चाहिए। भक्तिभावना का मैत्रीभावना से आवश्यक सम्बन्ध है।

भक्ति का तर्कसंगत **(rational)** अर्थ :

प्रस्तुत प्रसंग में यह समझ लेना आवश्यक है कि भक्ति का वास्तविक अर्थ क्या है? भक्ति दो प्रकार की हो सकती है, एक रागात्मक या भावात्मक (emotional) भक्ति और दूसरी बुद्धिसंगत या विचारसंगत (rational) भक्ति। रागात्मक (emotional) भक्ति में भक्त अपने भगवान को उसी प्रकार प्यार करता है जैसे किसी सगे सम्बन्धी (पुत्र, पति आदि) को करता है। इसमें ऐसा भी हो सकता है कि भक्त अपने प्रियतम भगवान के लिए भाव–विभोर होकर रोना–गाना आदि भी करे। भावनात्मक भक्ति का यह लाभ होता है कि भक्त की जो रागात्मक आसक्ति जगत के प्रति है

वह दिशा बदलकर भगवान के प्रति हो जाती है और भक्त के राग का उदात्तीकरण (sublimation) हो जाता है। किन्तु रागात्मक भक्ति में एक दोष की भी सम्भावना होती है। वह यह कि भक्त अपनी भावना में बह जा सकता है और कभी कभी तो विवेक खोकर असामान्य व्यवहार भी करने लग सकता है। कई ऐसे तथाकथित भक्तों को देखा जाता है कि वे भावावेश में या मिथ्यामिमान में अपने आवश्यक कर्तव्य कर्मों को त्याग देते हैं और अपने उत्तरदायित्व से विमुख हो जाते हैं (ऐसे लोग वास्तव में भक्त नहीं होते, उनसे परिवार, समाज और स्वयं उनका भी नुकसान ही होता है)।

विवेकसंगत या बुद्धिसंगत (rational) भक्ति ही वास्तव में भक्ति कहलाने योग्य है। विवेक यह कहता है कि भक्ति का अर्थ है भगवान के प्रति समर्पण और इस समर्पण का अर्थ है भगवान के अनुसार चलना, अपने अहं के अनुसार नहीं चलना। भक्ति (भगवत्समर्पण) का विवेकसंगत अर्थ यह है कि जो बात भगवान के अनुकूल है उसे करना और जो प्रतिकूल है उसे न करना ("आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्")। भगवान कोई मफिया नहीं है जो हमसे गलत काम करवाएगा; भगवान सत्यस्वरूप और प्रेमस्वरूप है, वह हमसे सही काम ही करवाएगा, जो हमारे लिए भी और दूसरों के लिए भी हितकारी होगा। अतः भगवत्समर्पण नैतिक दृष्टि से उचित और व्यावहारिक दृष्टि से लाभकारी ही है।

जब भक्ति का अर्थ है भगवान हमसे जैसा चाहे वैसा ही होना या रहना (being, "रहनी") और वैसा ही करना (doing, "करनी"), तो यह स्पष्ट हो जाना आवश्यक है कि भगवान हमसे क्या चाहेगा। इसमें दो तीन बातें आती हैं। पहली बात यह कि भगवान चाहेगा कि हम भला हों और सत्यमार्ग पर चलें, हम अहंकार को छोडें, क्योंकि अहंकार सभी बुराइयों की जड़ है। दूसरी बात यह कि भगवान चाहेगा कि हम अपने कर्तव्य कर्म को छोडें नहीं वरन् बखूबी से करें, और साथ ही भगवान का निमित्त बनकर भगवान के दिशा निर्देश के अनुसार कर्तव्य कर्म करें। भगवान ने गीता में कहा है, "हे अर्जुन, इस प्रकार चलाए गए सृष्टि–चक्र (कर्मचक्र) का जो अनुवर्तन नहीं करता (अर्थात् अपने कर्तव्य कर्म नहीं करता) वह पापायु है

और उसका जीना व्यर्थ है'' –

''एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति।।''

तीसरी और सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भगवान यह चाहेगा कि हम उसके बन्दों (अर्थात् जीवों) को अनुचित कष्ट न पहुँचावें, अपने स्वार्थ और अहंकार के कारण दूसरों का अहित न करें, वरन् सबको प्यार करें और सबका हित चाहें। अर्थात् मैत्रीभावना (प्रेम) करना भी भगवान की इच्छा के ही अनुरूप है। जो भगवान के भक्त हैं वे अपने प्रियतम भगवान की इच्छा के अनुसार ही भगवान के सभी बन्दों को प्यार करते हैं। भक्त जो संसार को प्यार करते हैं, वहाँ वस्तुतः भगवान ही अपने भक्तों के माध्यम से संसार को प्यार करते हैं। तात्पर्य यहकि भक्ति और विश्वप्रेम (मैत्रीभावना) ये दोनों चेतना की एक ही स्थिति के परिचायक हैं।

भक्ति के संदर्भ में एक प्रश्न उठ सकता है कि भक्ति करना तो उसके लिए सम्भव है जो भगवान के अस्तित्व में विश्वास करता है, किन्तु जो भगवान में विश्वास नहीं रखता उसके लिए भक्ति की क्या प्रासंगिकता होगी? नास्तिक के लिए ईश्वर है ही नहीं, फिर वह किसको समर्पण करेगा? इसका उत्तर है कि ऐसी अवस्था में भगवान के स्थान पर सत्य या धर्म या ऋत को रखकर व्यवहार किया जा सकता है। भगवान केवल एक व्यक्ति नहीं है वरन् सत्य का ही नाम भगवान है (''सत्यनारायण'')। भगवान के प्रति समर्पण वस्तुतः सत्य के प्रति समर्पण है (''सत्यं परं धीमहि'')। राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसामसीह आदि सत्य के ही व्यक्तिभूत रूप हैं। बुद्ध के ''धम्मपद'' और कृष्ण की गीता – इन दोनों में सत्य के प्रति समर्पण का उपदेश है; अंतर इतना ही है कि धम्मपद में सत्य का भगवान वाला रूप नहीं है, और गीता में सत्य के साथ साथ ही सत्य का भगवान वाला रूप भी है।

बुद्ध ने ईश्वर के अस्तित्व के विषय में कुछ भी नहीं कहा (न 'हाँ' कहा और न 'नाँ' कहा, इस विषय में उनका मौन प्रसिद्ध है)। किन्तु यह तो सर्वज्ञात है कि बुद्ध के अनुसार जीवन का परम प्राप्तव्य ''निर्वाण'' है। निर्वाण मोक्ष का ही दूसरा नाम है। बुद्ध का जो मार्ग है उसमें किसी गुरु या भगवान की आज्ञा के अनुसार चलने की बात नहीं है वरन् अपने आप

को ही अपना गुरु या प्रकाशक या दीपक बनाने की बात है। बुद्ध ने कहा – ''अपने आप को अपना दीपक बनाओ'' (''अत्तदीओ भव'' अथवा ''आत्मदीपो भव''); ''अपने आप की शरण जाओ, दूसरे की नहीं'' (''अत्तशरणा नान्यशरणा'')। यह ''अत्ता'' (आत्मा) जिसकी शरण लेने को बुद्ध कह रहे हैं वह निश्चित रूप से ''अहं'' (ego) नहीं है (ego को तो वे पहले ही नकार चुके हैं, इसे नकारने के कारण बहुत से लोग उनके सिद्धान्त को अनात्मवाद – "no soul theory" – के रूप में मान लिए हैं)। यह ''अत्ता'' अपने ही भीतर रहने वाली वैश्विक आत्मिक चेतना है जिसे बोधिचित्त (Buddha-consciousness) कहा जा सकता है। यह ''अत्तशरण' ('आत्मशरण') की अवस्था पहले चर्चा की गई ''आत्म विश्रान्ति'' की ही अवस्था है।

तात्पर्य यह है कि भगवान की शरण जाना अथवा सत्य की शरण जाना अथवा आत्मा की शरण जाना – इन तीनों का अर्थ अन्ततोगत्वा एक ही है। इस दृष्टि से देखने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग अन्ततोगत्वा एक ही है। आत्मा (परम आत्मा, परमात्मा, Higher Self) की शरण जाना और अपने आपको सभी वस्तुओं और सभी प्राणियों में देखना (सर्वात्मभाव, विश्वप्रेम) – यह ज्ञानमार्ग है। भगवान की शरण जाना और भगवान को सभी वस्तुओं और सभी प्राणियों में देखना और फलतः सबको प्यार करना (विश्वप्रेम) – यह भक्तिमार्ग है। पहले ही यह चर्चा हो चुकी है कि भगवान हमारा ही आत्मा (परम आत्मा, Higher Self) है, और दोनों मार्गों का परिणाम विश्वप्रेम है।, फिर दोनों में भेद क्या है? इसीलिए गीता में इन दोनों को एक ही बताया गया है। जहाँ तक कर्मयोग या कर्ममार्ग का सवाल है, यह भक्तियोग में ही समाहित है। इस दृष्टि से कर्मयोग और भक्तियोग सीधे एक ही है। यह समझ लेना चाहिए कि केवल कर्म करना मात्र ही कर्मयोग नहीं है; कर्म तो सभी प्राणी करते हैं, किन्तु उनका मात्र कर्म करना कर्मयोग या कर्ममार्ग नहीं है। कर्म तो कर्मयोग तब बनता है जब उसे अपना कार्य न समझ कर भगवान के प्रति समर्पित कर दिया जाता है और भगवान का कार्य समझकर और स्वयं भगवान का चाकर बनकर, ''खुदाई खिदमतगार'' बनकर निमित्तभाव से कार्य किया जाता है। तात्पर्य यह कि परमात्मा के प्रति समर्पण कर,

परमात्मा का निमित्त (medium or instrument) बनकर, परमात्मा के लिए कर्म करना कर्मयोग है; अथवा दूसरे शब्दों में, सत्य के प्रति समर्पण कर सत्य का निमित्त (instrument of truth) बनकर शुद्ध कर्तव्य भाव से कर्म करना कर्मयोग है। इस भाव से कोई भी कर्म करने पर वह कर्मयोग बन जाता है और तब वही कर्म पूजा (worship) बन जाता है।

इस प्रकार एक ओर ज्ञानयोग और दूसरी ओर भक्तियोग या कर्मयोग साधना की दृष्टि से एक ही है। दोनों में ही अहंभाव (ego) समाप्त हो जाता है अर्थात् निज का कर्तृत्व भाव समाप्त हो जाता है अर्थात् यह भाव नहीं रह जाता कि मैं स्वयं कर्ता हूँ वरन् यह भाव हो जाता है कि मैं तो भगवान का या सत्य का चाकर या निमित्त (instrument) हूँ। अहं के गलने पर फिर यह होता है कि हमारे भीतर से ही भगवत् शक्ति का (या यह कहिए कि सत्य का) प्रवाह अपने आप हममें होने लगता है और फिर हमारे सारे कार्य अपने लिए तथा दूसरों के लिए कल्याणकारी हो जाते हैं। उस समय यह ज्ञान हो जाता है कि कोई दूसरा नहीं है सब लोग मेरे ही हैं। फलतः मेरा हित एवं जो तथाकथित दूसरे हैं उनका हित (सबका हित) एक ही हो जाता है। (बिना अहंभाव, ego के गले सर्वात्मभाव नहीं आता क्योंकि 'ईगो' ही दूसरों से अलगाव करने वाला विभेदक तत्त्व है। इसी कारण अहं के रहते प्रेम नहीं होता, अहं के गलने पर प्रेम अपने आप प्रकटित हो जाता है।)

अंत में निष्कर्ष रूप में एक बात स्पष्ट कर देना समीचीन होगा। सभी आध्यात्मिक साधनाओं को दो कोटियों में बाँटकर समझा जा सकता है। तंत्र (जो अध्यात्मशास्त्र है) की भाषा में पहली कोटि को "आत्मविश्रांति" (relaxing or resting in the Self) (जिसकी चर्चा पहले भी की जा चुकी है) कह सकते हैं, और दूसरी कोटि को "आत्मप्रसार" (self-expansion) कह सकते हैं। इन दोनों कोटियों की साधना में चेतना का विकास (growth of consciousness) होता है। आत्मविश्रान्ति को चेतना का "अनुलम्ब विकास" (vertical growth of consciousness) एवं आत्मप्रसार को चेतना का विस्तारक या क्षैतिज विकास" (horizontal growth) कह सकते हैं। दूसरे शब्दों में, आत्मविश्रान्ति को "चेतना का गम्भीरीकरण" (deepening of consciousness) और आत्मप्रसार को " चेतना का विस्तारीकरण" (widening of

consciousness) कह सकते हैं।

ध्यान साधना एवं भक्तिसाधना के द्वारा अपने को शान्त (silence) कर अथवा समर्पण (resign) कर हम अपनी चेतना (आत्मा) की गहराई में प्रविष्ट होते हैं, यह आत्मविश्रांति है। मैत्रीभावना (प्रेम) की साधना के द्वारा हम सर्वात्मभाव में रहते हैं, सबको अपना समझते हैं, दूसरे शब्दों में, सब में अपने आप को फैला देते हैं और फलतः सबको प्यार करते हैं और सबका हित चाहते हैं। यह आत्मप्रसार है, प्रेम ही आत्मप्रसार का अर्थ है।

आत्मविश्रान्ति और आत्मप्रसार एक दूसरे के पूरक हैं, अथवा यह कहना अधिक सही होगा कि ये दोनों एक ही साधना के दो रूप (aspects) हैं। हम जितना अपनी आत्मा की गहराई में प्रवेश करते हैं उतना प्रेम भाव या सर्वात्मभाव अपने आप प्रकटित होता है, क्योंकि आत्मा हमारे शरीर के भीतर ही सीमित नहीं है वरन् वह सर्वव्यापी तत्त्व है, सर्वात्मभावी है, प्रेम उसका सहज स्वभाव है। इसी प्रकार हम जितना प्रेम कर अपना प्रसार दूसरों में करते हैं उतना उतना हम अपनी आत्मा की गहराई में प्रविष्ट होते हैं, क्योंकि प्रेमसाधना के प्रभाव से अहंभाव (ego), जो आत्मा का अवरोधक तत्त्व है, गल जाता है और इस अवरोधक के गलने से हम अपने आप आत्मा में चले जाते हैं। आत्मविश्रान्ति और आत्मप्रसार दोनों समकालिक (simultaneous) हैं।

चेतना के विकास की इन दोनों समकालिक प्रक्रियाओं को हम किसी वृक्ष के विकास की दोनों समकालिक प्रक्रियाओं के दृष्टान्त से समझ सकते हैं। वृक्ष की जड़े धरती के अंदर गहराई में प्रवेश करती हैं तो यह वृक्ष का गम्भीरीकरण (deepening) है, और इसी के साथ बाहर में वृक्ष की शाखाएँ प्रशाखाएँ चारों ओर फैलती हैं तो यह वृक्ष का विस्तारीकरण (widening or horizontal growth) है। जितना जितना वृक्ष की जड़े गहराई में प्रवेश करती हैं उतना उतना उसकी शाखा प्रशाखाओं का बाहर फैलाव होता है। यदि जड़ें अन्दर न जाएं तो बाहर विस्तार नहीं होगा, और इसी के साथ यह भी सत्य है यदि बाहर विस्तार नहीं होगा अर्थात् शाखा प्रशाखाओं को फैलने का अवसर नहीं मिलेगा, तो वृक्ष की जड़ें भी अन्दर नहीं जाएंगी। ये दोनों प्रक्रियाएँ अन्योन्याश्रित हैं। अतः ये दोनों एक साथ आवश्यक हैं। यही बात आत्मविश्रान्ति और आत्मप्रसार के आपसी सम्बन्ध के विषय में भी सही है।

यह जो कहा जाता है कि आत्मप्राप्ति के लिए संसार के प्रति मोह (आसक्ति) का त्याग करना आवश्यक है तो इसमें कोई विरोध नहीं है; किन्तु बहुत से लोग इसका यह गलत अर्थ लगा लेते हैं कि संसार के प्रति प्रेम भी नहीं होना चाहिए। वास्तविकता यह है कि जिसे हम प्रेम (मैत्रीभावना) कह रहे हैं वह मोह या आसक्ति से सर्वथा भिन्न है। हम पहले एक अध्याय में यह स्पष्ट करने का प्रयत्न कर चुके हैं कि मोह या आसक्ति स्वार्थ का ही प्रच्छन्न रूप है, अतः वह प्रेम के विपरीत है। मोह में लेने का भाव होता है, प्रेम में देने का भाव होता है। मोह बाँधता है, प्रेम छुड़ाता है। अतः प्रेम को मोह (आसक्ति) समझने या मोह (आसक्ति) को प्रेम समझने की भूल नहीं करनी चाहिए। प्रेम के बिना आत्मप्राप्ति नहीं हो सकती और आत्मप्राप्ति होने पर सर्वात्मभाव (प्रेम) का होना स्वाभाविक है। आत्मप्राप्त व्यक्ति का प्रेम सबमें होता है, आसक्ति किसी में नहीं होती है।

सभी योगशास्त्रों और सभी धर्मग्रंथों में आत्मविश्रान्ति और आत्मप्रसार का उपदेश है, भले ही वहाँ शब्दावली भिन्न है। गीता के समापन वाले अध्याय (अट्ठारहवें अध्याय) में अन्तिम उपदेश के रूप में अर्जुन को कहा गया है कि "सब प्रकार से भगवान की शरण जाओ" ("तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत") और पहले के अध्यायों में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि भगवान केवल व्यक्तिरूप कृष्ण नहीं है वरन् सब जीवों का परमआत्मा (Higher self) है; अतः भगवान के प्रति समर्पण का अर्थ आत्मा (परम आत्मा) के प्रति समर्पण है। यह आत्मविश्रान्ति का उपदेश हुआ। गीता में अन्यत्र कहा गया है कि साधक सर्वात्मभाव प्राप्त कर लेता है ("सर्वभूतात्मभूतात्मा") और "सबके हित में लगे रहता है"("सर्वभूतहिते रताः"), साथ ही यह भी कहा गया है कि साधक "मैत्री और करुणा वाला होता है" ("मैत्रः करुण एव च")। यह मैत्रीभावना (प्रेम) का उपदेश है। अर्थात् यह आत्मप्रसार का उपदेश है।

नानकदेव की परम्परा (सिक्ख परंपरा) में भी यह बात स्पष्ट रूप से कही गई है ("जिन प्रेम किया तिन ही प्रभु पाया")। बौद्ध एवं जैन परम्परा में विपश्यना और प्रेक्षाभाव आत्म विश्रान्ति का योग है तथा मैत्रीभावना आत्मप्रसार का योग है (जैन में भी मैत्रीभावना और करुणा पर बहुत जोर है)। श्रमण (बौद्ध और जैन) परम्परा में भगवान का नाम न लेकर उसके

स्थान पर 'सत्य' या 'धर्म' की प्रतिष्ठा है। कुरान में भी खुदा को प्यार करने और 'हमसाया' (साथ रहनेवाला अर्थात् पड़ोसी) को प्यार करने पर बहुत बल दिया गया है। बाइबिल में प्रभु को सम्पूर्णभाव से प्यार करने और पड़ोसी को प्यार करने का आदेश एक साथ दिया गया है और कहा गया है कि इन दोनों से बढ़कर कोई दूसरा आदेश (commandment) नहीं है – "Thou shalt love the Lord thy God with all thy heart and with all thy soul and with all thy mind and with all thy might. This is the first commandment. And the second is like namely this: Thou shalt love thy neighbour as thyself. There is none other commandment greater than these." यहाँ इस बात का उल्लेख कर देना आवश्यक होगा कि ईसाई चर्च के लोग भगवान को ''पर'' ("The Holy other") मानते हैं, अपना स्वात्मा (self) नहीं मानते। किन्तु इसी के साथ यह भी सत्य है कि ईसाई रहस्यवादियों (Christian Mystics) ने भगवान को या क्राइष्ट को अवतारी व्यक्ति होने के साथ साथ वैश्विक चेतना (cosmic sonsciousness) के रूप में माना है जो सबके भीतर प्रतिष्ठित है। इसे वे ''खिस्तीय चेतना'' ("Christ Consciousness") कहते हैं। इस्लाम में सूफी परम्परा के सन्तों ने भी ऐसा ही कहा है। यदि उक्त बात पर ध्यान दिया जाय तो यह कहने में कोई हिचक नहीं होगी कि भगवत्प्रेम (love of God) वस्तुतः आत्मविश्रान्ति ही है; पड़ोसी के प्रति प्रेम (love of neighbour) तो आत्मप्रसार है ही। अतः आत्मविश्रान्ति की साधना और आत्मप्रसार की साधना (जो परस्पर पूरक एवं अन्योन्याश्रित है अथवा एक ही साधना के रूप हैं) – यही सभी धर्मों एवं सभी पंथों की सारभूत साधना है।

●

मैत्रीभावना के अभ्यास के लिए कुछ व्यावहारिक संकेत (Tips)

पिछले पृष्ठों में मैत्रीभावना की जो व्याख्या प्रस्तुत की गई है उसमें स्थान–स्थान पर प्रसंगानुसार मैत्रीभावना का अभ्यास करने की व्यावहारिक विधा भी दी गई है। पुनः यहाँ एक ही स्थान पर क्रमबद्ध ढंग से संक्षेप में मैत्रीभावना के सभी अंगों का अभ्यास करने की व्यावहारिक विधि का उल्लेख किया जा रहा है ताकि पाठक को अभ्यास करने मे सहूलियत हो जाय।

(1) मैत्रीध्यान के लिये समय स्थिर करना

सर्वप्रथम अपनी समय–व्यवस्था (Time – management) के अनुसार कोई समय निश्चित कर लेना चाहिए जिस समय रोज मैत्रीभावना का अभ्यास किया जाय। वैसे तो जब भी मन खाली रहे उस समय अनावश्यक विचार लाने अथवा गप करने या व्यर्थ समय बिताने के बजाय उस खाली समय का उपयोग मैत्रीभावना के अभ्यास में किया जा सकता है और करना भी चाहिए। फिर रोज के लिए एवं निश्चित समय स्थिर कर लेने की आवश्यकता इसलिए है कि हम आलस्यवश या प्रमादवश अभ्यास में ढिलाई न करें। निश्चित समय बना लिए रहेंगे तो रोज उस समय अभ्यास करने के लिए हम प्रेरित होंगे। जो लोग पूजा–पाठ करते हैं वे लोग पूजा के लिए समय स्थिर किए रहते हैं। मैत्रीभावना को पूजा में शामिल किया जा सकता है। हम इससे पहले देख चुके हैं कि भगवान की भक्ति का जो वास्तविक अर्थ है उसका आवश्यक अंग है मैत्रीभावना। भगवान की अपने भक्त से यह स्वाभाविक आकांक्षा है कि भक्त उसके (भगवान के) सभी बन्दों को प्यार करे, उनका हित चाहे। अतः मैत्रीभावना से बढ़कर भगवान की दूसरी कौन सी पूजा हो सकती है ? दैनिक पूजा के उपरान्त पूजा के अंग रुप में ही दश–पन्द्रह मिनट रोज मैत्रीभावना का अभ्यास किया जा सकता है। पूजा में मैत्रीभावना को अवश्य शामिल करना चाहिए, अन्यथा पूजा का वास्तविक फल नहीं प्राप्त हो सकेगा।

मैत्रीभावना के अभ्यास के लिए सबसे सुलभ और उपयुक्त समय होगा सोने के लिये बिस्तर पर जाने पर। निद्रित होने के पन्द्रह बीस मिनट

या आधा घण्टा पहले (या जितना समय उपयुक्त समझे जितना समय सुलभ हो सके) मैत्रीभावना का अभ्यास करें। यदि बिस्तर पर जाते ही नींद आ जाती हो तो सबेरे उठते ही अभ्यास कर लें तब बिस्तर छोड़ें। शौचादि नित्य कर्म करते हुए भी मैत्रीभावना का अभ्यास करते रहा जा सकता है, क्योंकि इसमें शुद्धाशुद्ध का कोई प्रश्न नहीं है। इसमें यह भी प्रतिबद्धता नहीं है कि किसी विशेष आसन पर बैठें या शरीर को किसी विशेष मुद्रा या अवस्था में रख दें। आप जिस भी अवस्था में रहें, मैत्रीभावना का अभ्यास कर सकते हैं।

टहलते समय या कहीं जाते समय सामने या आस–पास दीखने वाले सभी लोगों के प्रति मैत्रीभावना करते चलना चाहिए। ट्रेन, बस, हवाईजहाज आदि में यात्रा करते समय सहयात्रियों के प्रति मैत्रीभावना करते रहना चाहिए। यात्रा में मन प्रायः खाली ही रहता है, बल्कि कभी कभी तो समय काटना मुश्किल हो जाता है। अतः यात्रा के समय का उपयोग अवश्य ही मैत्रीभावना के अभ्यास में करना चाहिए। यात्रा में कभी–कभी प्रतीक्षा भी करनी पड़ती है अथवा कभी–कभी किसी व्यक्ति या किसी घटना के लिए प्रतीक्षा में बैठे रहना पड़ सकता है। प्रतीक्षा के समय का उपयोग मैत्रीभावना के अभ्यास में किया जा सकता है। तात्पर्य यह कि जब भी मन खाली हो (अर्थात् किसी कार्य में ध्यान देने की स्थिति न हो अथवा कार्य सहज भाव से अपने आप हो रहा हो और उसमें विशेष ध्यान देने की आवश्यकता न हो) तो उस समय का उपयोग मैत्रीभावना के अभ्यास में करना चाहिए।

(2) मैत्री–ध्यान की विधि

मैत्री–ध्यान करने के लिए विश्रान्त (relaxed) होकर बैठ जाइए। चूँकि शरीर के आसनविशेष या मुद्राविशेष (posture) की प्रतिबद्धता नहीं है, अतः बैठे, लेटे, आदि जिस स्थिति में आराम लगे उसमें हो जाइए और अपने सबसे नजदीकी वृत्त (nearest circle) से मैत्रीभावना प्रारंभ कीजिए। परिवार सबसे नजदीकी वृत्त है; जहाँ काम करते हों वहाँ के सहकर्मी (colleagues), किसी सभा में बैठे हों वहाँ सभागार में बैठे लोग, यात्रा कर रहे हों तो सहयात्री – ये सभी नजदीकी वृत्त में आते हैं। उनका ध्यान कर (अर्थात् उन्हें मन में ले आकर) उनके प्रति मैत्री–मन्त्र का बार बार मनन

करें (मानों बात कर रहे हैं)। उदाहरण के लिए परिवार के सदस्यों (पत्नी, पति, बच्चे, माता–पिता, भाई–बहन, चाचा–चाची आदि) को मन में ले आवें और यह मैत्री मंत्र उनके प्रति बार बार जपें – "आप हमारे ही हो, आप भला होओ और आप सुखी होओ (you are my own, be good, be happy)। जैसे मन में मंत्र जपते हैं अर्थात् मन में बार बार भावना करते हैं वही मैत्रीमंत्र में करना चाहिए (मैत्रीमंत्र की व्याख्या पहले की जा चुकी है)। आपके मन में सुख की जो भी अवधारणा हो उसे लागू करके उनके सुखी होने की कामना करें; जैसे – स्वस्थ रहें, कोई दु:ख न आवे, सफलता और प्रसन्नता की प्राप्ति हो, धन–संपत्ति बनी रहे, आदि आदि। भगवान बुद्ध ने पड़ोसी के प्रति मैत्रीभावना करने के उदाहरण में बताया – पड़ोसी के घर में सभी स्वस्थ रहें, उसके बच्चे फलें फूलें, उसकी गायें खूब दूध दें, उसके खेत में खूब अन्न हो, उस पर कोई विपत्ति न आवे, आदि आदि।

मैत्रीध्यान आँख मूँद कर भी कर सकते हैं और आँख खोल कर भी कर सकते हैं, जैसी सुविधा हो उसके अनुसार करें। टहलते समय या यात्रा करते समय तो आँख खुली रहना ही सुविधाजनक होगा। किन्तु घर में बैठे हुए करने पर (चाहे अकेले कर रहें हों या साथ बैठकर समवेत ध्यान कर रहे हों) आँख मूँदकर अभ्यास करना अधिक सुविधाजनक एवं संभव होगा। आँख मूँदकर ध्यान करने पर ध्यान अधिक स्थिर होने में सहायता मिलती है।

चूँकि मैत्रीध्यान अपने सबसे नजदीकी वृत्त के लोगों के प्रति प्रारम्भ करना है, अतः यदि विवाहित हो तो पति सबसे पहले पत्नी का और पत्नी सबसे पहले पति को मैत्रीभावना दे। मन में पति या पत्नी का ध्यान कर या कल्पना में ले आकर उनके प्रति मानसिक भाषा में ही मैत्री–मंत्र कहें (मनन करें या भावना करें) – "आप हमारे ही हो, आप भला होओ और सुखी होओ" (you are my own, be good, be happy)। फिर माता–पिता, भाई–बहनों, भाभी–ननद, चाचा–चाची आदि परिवार के अन्य सदस्यों को भी ध्यान में ले आकर उनके प्रति भी यही करें। समय रहने पर एक एक व्यक्ति को क्रमशः ध्यान में ले आकर मैत्रीभावना कर सकते हैं, किन्तु समय कम रहने पर सबको इकट्ठा ध्यान में लाकर कर सकते हैं।

परिवार के वृत्त के बाद दूसरा नजदीकी वृत्त पड़ोस है। जहाँ काम

करते हैं वहाँ के सहकर्मी भी पड़ोसी हैं, मित्र और रिश्तेदार भी पड़ोसी की कोटि में आएंगे। पड़ोसी के स्त्री–पुरुष बालक वृद्ध सभी को मन में ले आकर उनसे मन में ही कहें (मानों आप उनसे मानसिक सम्वाद कर रहे हैं) – "आप लोग हमारे ही हैं, आप लोग भला होइए और सुखी होइए", फिर पूरे समाज को (गाँव या शहर के सभी लोगों) को मन में ले आकर उनको भी यही मैत्री–मंत्र कहें। फिर अपने देश के सभी लोगों के प्रति करें। फिर सारे विश्व के लोगों (अर्थात् सभी मनुष्यों) के प्रति यही कहें। फिर सारे प्राणिमात्र (जलचर, थलचर, नभचर) के प्रति यही भावना कीजिए "आप सभी लोग हमारे ही हैं, आप लोग भला होइए और सुखी होइए"। वनस्पतियों एवं पूरे पर्यावरण के प्रति भी इस रूप में शुभकामना करिए – "पेड़–पौधे स्वस्थ एवं हरे भरे रहें, धरती शस्य–श्यामला हो, नदियों में निर्मल जल प्रवाहित हो, वायु शुद्ध हो, सारा पर्यावरण एवं वातावरण शुद्ध एवं सुखद हो, आदि"।

अन्त में एक और वृत्त रह जाता है, वह है अशरीरी या सूक्ष्म शरीरधारी जीवों का वृत्त। शरीर छोड़े हुए लोग (अर्थात् मरे हुए लोग), पितर लोग, सूक्ष्म एवं वायवीय अस्तित्व वाली आत्माएं (irits), भूत–प्रेत आदि अशरीरी जीव इस वृत्त में आते हैं। इन सबका भी मन ही में ध्यान कर इन सबको भी पूर्ववत रीति से मैत्रीभावना दें। अपने पितरों और शरीर छोड़े हुए मित्रों एवं संबंधियों को विशेष रूप से मैत्रीभावना दें। यदि कोई दुष्ट, पापी या शत्रु मर गया है तो उसके सुधरने, पश्चात्ताप करने एवं आगे का जीवन–मार्ग सही करने की मैत्रीभावना दें। कई घरों में प्रेतात्माओं द्वारा उत्पीड़न होने की खबरें अखबारों में आती रहती हैं। वहाँ सन्दिग्ध प्रेतात्माओं का ध्यान कर उनके प्रति मैत्रीभावना करने से समस्या का हल हो जाता है। (अपने अनुभव में हमने एक ऐसा ही सफल प्रयोग किया है)।

अपने नजदीकी परिवार से प्रारंभ कर सभी जीव–जन्तुओं एवं अशरीरी प्राणियों तक का एक चक्र (round) पूरा हो जाने पर ऐसा नहीं समझना चाहिए कि मैत्रीभावना का अभ्यास पूरा हो गया। एक चक्र पूरा होने पर फिर से चक्र दुहराइए और जितनी देर कर सकें, करते रहिए। मैत्रीभावना करते समय किसी व्यक्ति विशेष या समुदाय विशेष को या अपने किसी प्रिय व्यक्ति को अधिक समय तक मैत्रीभावना देने का मन करे

तो उसके प्रति अधिक समय देकर मैत्रीभावना कर सकते हैं। जो जितना नजदीकी वृत्त है उसके प्रति हमारा उतना ही अधिक मैत्रीभावना का कर्तव्य है। इसीलिए हम जिस परिवार, समाज और देश में पैदा हुए हैं और पले–बढ़े हैं उसके प्रति हमारा विशेष कर्तव्य है क्योंकि उसका हमारे ऊपर ऋण है (लोक–ऋण)। अतः वहाँ अधिक मैत्रीभावना दें।

मैत्रीभावना करते समय मन इधर–उधर भटके तो इससे चिन्तित मत होइए, मन को पुनः मैत्रीध्यान पर ले लीजिए; बार बार मन भागे तो बार बार लौटा लीजिए, कुछ दिनों के अभ्यास के बाद नहीं भागेगा। जैसे बन्दर एक डाल से दूसरी डाल पर कूदते रहता है उसी प्रकार बन्दर–मन (monkey-mind) का चंचल होना स्वाभाविक है। मैत्री–ध्यान में जो हम एक वृत्त से दूसरे वृत्त पर जाते रहते हैं उससे मन को एक डाल से दूसरी डाल पर कूदने की सुविधा मिल जाती है। अतः व्यक्ति और वृत्त बदल बदल कर ध्यान करते रहिए।

यह पहले भी अनेक प्रसंगों में कई बार कहा जा चुका है कि दुष्ट व्यक्ति को और दुश्मन को भी मैत्रीभावना के वृत्त में ले आइए। दुष्ट और दुश्मन के प्रति मैत्रीभावना क्यों किया जाय और किस रूप में किया जाय यह भी स्पष्ट किया जा चुका है (पिछले पृष्ठों में इस प्रसंग को देखें)। दुष्ट और दुश्मन व्यक्ति को ध्यान में ले आइए (वह वैसे भी अपने आप ध्यान में आएगा क्योंकि वह मन में पीड़ादायक बनकर सशक्त रूप से बैठा हुआ रहता है।) उसको मन में ले आकर उससे दृढ़ मानसिक शब्दों में कहें जैसा कि हम अपने बिगड़े बच्चे को कहते हैं, – "तुम भी हमारे ही हो, तुम रास्ता भटक गए हो और बिगड़ गए हो। तुम रास्ते पर आओ और अपना सुधार करो। अपने किए पर पश्चाताप करो और भला हो जाओ। यदि नहीं सुधरते हो तो प्रकृति तुम्हें दण्ड देगी ही, अतः सुधर जाओ ताकि दुःख से बच सको, इसी में तुम्हारा वास्तविक कल्याण है"। आप चाहें तो उसके प्रति कठोर मैत्रीभावना कर सकते हैं (देखिए "कठोर मैत्रीभावना का अभ्यास" वाला अध्याय); उसे मन में दृढ़ता के साथ डाँटते हुए कह सकते हैं – "गलत रास्ता छोड़ो"। किन्तु यहाँ ध्यान रखिए कि कठोर मैत्रीभावना केवल प्रेम भाव या कर्तव्य भाव से उसके हित के लिए करें, न कि क्रोध में या शत्रुता में या बदला लेने के भाव में करें, क्योंकि वह भी अपना ही

है। अपने बिगड़े बच्चें को सुधारने के लिए हम कठोर होते हैं, उससे बदला लेने के लिए नहीं। अपनों से क्या बदला लेना? दुष्ट और दुश्मन के कारण स्वयं आपके मन में जो "खून जल रहा है", जो तनाव है और ग्रंथि बन गई है और जिन सबके कारण आपका मन पीड़ित एवं त्रस्त है उससे मुक्ति मिल जाएगी और मन तनावरहित होकर सुखी हो जाएगा। दूसरी ओर, उस दुष्ट व्यक्ति में भी परिवर्तन आएगा।

किसी स्त्री या पुरुष के प्रति आसक्ति है या उसके प्रति कामभावना (sex feeling) आती है तो उसके प्रति गहन मैत्रीभावना करते हुए उसके सुखी होने की कामना करें। पुरुष का स्त्री के प्रति और स्त्री का पुरुष के प्रति आकर्षण होना स्वाभाविक है। उस स्त्री या पुरुष के प्रति मैत्रीभावना करने से आकर्षण का भाव उदात्त होकर प्रेम का भाव बन जाएगा, कामभावना परिवर्तित और उदात्त होकर प्रेमभावना बन जाएगी। अतः कामवासना के उदात्तीकरण के लिए यह आवश्यक है कि जिस व्यक्ति के कारण कामभावना जगती हो उसके प्रति मैत्रीभावना करें। पति–पत्नी के बीच काम–क्रिया की नैतिक और सामाजिक अनुमति है, किन्तु पति–पत्नी भी आपस में गहन रूप से मैत्रीभावना करें, क्योंकि काम–क्रिया में रस लाने वाला तत्त्व प्रेम (मैत्रीभावना) ही है; मजा लेने के लिए काम तो अंततः काम को नीरस बना देता है।

आपको अपने लिए जिस वस्तु को पाने की इच्छा हो उसे दूसरों को भी मिल जाने की कामना करिए। उदाहरण के लिए, आप अपने लिए धन चाहते हैं तो कामना (मैत्रीभावना) कीजिए कि सभी लोग धनी हो जाएँ, आपको सम्मान चाहिए तो कामना कीजिए कि सभी को सम्मान मिले, आदि आदि। आप दूसरों के लिए जिस वस्तु की कामना करेंगे, वह पहले स्वयं आपको मिल जायेगी।

3. समवेत मैत्री–ध्यान

ऊपर जो संकेत (tips) दिये गये हैं वे व्यक्तिगत मैत्री–ध्यान के संदर्भ में हैं। समूह में एक साथ बैठकर सामूहिक रूप से भी मैत्री–ध्यान किया जा सकता है और करना भी चाहिए। इसे समवेत ध्यान (collective meditation) कहते हैं। परिवार के सदस्य एक साथ बैठकर समवेत मैत्री–ध्यान कर सकते हैं। किसी संस्था के सदस्य, गाँव, मुहल्ला या

समाज के लोग एक साथ बैठकर ध्यान कर सकते हैं। परिवार के सदस्य तो एक साथ बैठकर समवेत ध्यान अवश्य करें, इससे अनेक लाभ हैं। परिवार के सदस्यों का किसी एक समय साथ बैठना और मिलना भी अपने आप में एक लाभकारी उपलब्धि है। परिवार के सदस्य एक साथ मैत्रीभावना का ध्यान (अभ्यास) तो करें ही, इसके साथ पारिवारिक एवं अन्य समस्याओं पर गणतांत्रिक (democratic) ढ़ंग से विचार कर सकते हैं। मैत्रीभावना के अभ्यास एवं गणतांत्रिक विचार–विमर्श से तमाम पारिवारिक समस्याओं का हल निकल आता है। समवेत पारिवारिक अभ्यास के लिए आवश्यक है कि एक समयावधि निश्चित कर ली जाय – आधा घण्टा, पौन घण्टा, एक घण्टा या जितना समय मिलना सम्भव हो – शाम को या छुट्टी के दिन या जब भी संभव हो। उस समय परिवार के सभी सदस्य एक साथ बैठकर मैत्री–ध्यान करें और ध्यान के बाद पारिवारिक अभिवृद्धि के लिए भी साथ बैठकर विचार विमर्श करें।

गाँव, मुहल्ला या समाज के लोग भी समवेत मैत्री–ध्यान करें। इसके लिए आवश्यक है कि संगठन के तौर पर समूह बना लिया जाय और एक स्थान और समय तय कर लिया जाय जिसमें सब लोग इकट्ठा हो सकें। सामूहिक ध्यान की सुविधा के लिए यह भी आवश्यक है कि कोई व्यक्ति संचालन (conduct) करने वाला हो जैसा कि इस्लामी परम्परा में सामूहिक नमाज में होता है। यह भी आवश्यक है कि कब ध्यान प्रारंभ हो और कब समाप्त हो इसके लिए संचालक कोई संकेत दे – घण्टी बजावे या अन्य कोई संकेत दे। संकेत के रूप में ध्यान के प्रारंभ और अन्त में लम्बी साँस लेकर "ऊँ" का लम्बा उच्चारण कर सकते हैं। संचालक 'ऊँ' का लम्बा उच्चारण करे और उसी के साथ अन्य लोग भी उच्चारण करें। लम्बी साँस लेकर उच्चारण करने से लम्बे समय तक उच्चारण होगा।

"ऊँ" किसी धर्म विशेष का शब्द नहीं है, यह ध्वनि (sound) मात्र है और निराकार ईश्वरीय सत्ता का वाचक प्रतीक है। किन्तु यदि इसे हिन्दू धर्म का समझा जाता है तो दूसरे धर्मावलम्बी अन्य संकेतों का उपयोग कर सकते हैं। उदाहरण के लिए, इस्लाम के लोग लम्बा "अल्लाह......" कह सकते हैं और ईसाई लोग लम्बा "आमीन........" कह सकते हैं।

सा हिक ध्यान में जो लोग साथ बैठे हैं वह समूह ही सबसे

नजदीकी वृत्त हुआ। अतः वहीं से मैत्रीभावना प्रारंभ करनी चाहिए, अर्थात् पहले अपने समूह में बैठे लोगों का ध्यान कर उनके प्रति मैत्रीभावना करें "आप सब हमारे ही हैं, आपलोग भला होवें और सुखी होवें" (you are my own, be good, be happy)। फिर पूर्वोक्त क्रम से (या अपना स्वयं का क्रम बनाकर मैत्रीभावना करें, हाँ, अपनी मैत्रीभावना की परिधि में सबको लें, किसी को छोड़े नहीं, दुष्ट और दुश्मन को भी अपनी मैत्रीभावना की परिधि में लें आदि)।

सामूहिक सामाजिक अभ्यास में मैत्रीध्यान के बाद थोड़ी देर समाज की अभिवृद्धि और सुख–शान्ति के लिए चर्चा भी करनी चाहिए और सामाजिक समस्याओं के समाधान के लिए विचार विमर्श भी करना चाहिए। मैत्रीध्यान और सामूहिक विचार विमर्श समाज के स्वास्थ्य के लिए बहुत आवश्यक है। परिवार समाज की इकाई है। अतः परिवार में तो सामूहिक ध्यान अवश्य ही होना चाहिए और विचार विमर्श भी होना चाहिए।

यह नहीं समझना चाहिए कि समवेत (सामूहिक) अभ्यास के लिए जो समय निकाला जाएगा वह समय की बर्बादी होगी। सत्य यह है कि पारिवारिक एवं सामाजिक अभिवृद्धि और सुखशान्ति के लिए उतना समय देना अति लाभकारी होगा, उससे उस आधारभूत चेतना का विकास होगा जो समृद्धि एवं सुख की नींव है। वह "इम्पॉर्टेण्ट" (Important) कोटि में है, भले ही "अर्जेण्ट" कोटि में नहीं दीखता हो।

4. बाह्य व्यावहारिक जीवन एवं कार्यक्षेत्र में मैत्रीभावना

मन में मैत्रीभावना बैठ जाएगी तो बाह्य व्यवहार में भी उसका प्रकटीकरण होगा और बाह्य व्यवहार में मैत्रीभावना करने पर वह मन में और भी दृढ़ हो जाएगी। आन्तरिक मैत्रीभावना एवं बाह्य मैत्रीभावना में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। बाह्य मैत्रीभावना के अनेक रूप हो सकते हैं, जैसे सामाजिक सेवा–कार्य करना या सेवाकार्य के लिए धन प्रदान करना, दूसरों के साथ सहयोग (co-operation) की भावना से काम करना, दूसरों की आवश्यकता में मदद करना, सबके साथ मीठा एवं प्रेमपूर्ण व्यवहार करना, लड़ाई–झगड़ा का रास्ता न अपनाकर पारस्परिक हित का रास्ता अपनाना, दीन–दुःखी के प्रति सहानुभूति, दया और करुणा का भाव होना, समाज के अभावग्रस्थ लोगों की भी चिन्ता (care) करते हुए उनकी

यथासम्भव सहायता करना आदि आदि। बाह्य मैत्रीकार्य में भी यथासम्भव एवं यथाशक्ति भाग लेना चाहिए।

ईसाई धर्म में सामाजिक सेवा–कार्य को धर्म का आवश्यक अंग माना जाता है और ईसाई लोग नियमित रूप से सेवा कार्य में धन देते हैं। इस्लाम में गरीबों को दान करना (जकात) एवं उनकी सहायता करना धर्म का अंग है। इस्लाम को मानने वाले इसे आवश्यक रूप में करते हैं। हिन्दू धर्म में भी यह माना गया है कि हमारे ऊपर समाज (लोक) का ऋण है जो तीन ऋण में "देव–ऋण" के भीतर आता है। इस "लोक–ऋण" को चुकाना सबका धर्म है, जो व्यक्ति इस ऋण को नहीं चुकाता वह "चोर है और दण्ड का भागी है" ("स स्तेनो दण्डमर्हति")। अतः विधान किया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी आमदनी का दशवाँ हिस्सा लोक–ऋण की अदायगी के रूप में लोक–कल्याण (लोकसंग्रह, लोकमंगल) में खर्च करे। कहा तो यह भी गया है (और इसे करना भी चाहिए) कि अपनी आवश्यकता (necessity) की पूर्ति एवं आरामपूर्वक जीवन बिताने (comfort) के लिए किए गए खर्च के अलावा जो धन बचे उसे लोक कल्याण के लिए देना चाहिए; इसे ही "अपरिग्रह" कहा गया है।

अतः प्रयत्न करें कि अपनी कमाई का दशवाँ भाग लोक–कल्याण के लिए दें। यदि आमदनी बहुत कम हो और दशवाँ भाग देने में कठिनाई हो तो लोक–कल्याण के कार्य में अपने समय एवं श्रम का दशवाँ भाग प्रदान करें। यदि जीवन–यापन के लिए अर्जन करने में ही सारा समय और श्रम चला जाता है तो मैत्रीभावना का मन में ही अभ्यास नियमित रूप से करें, यह तो कर ही सकते हैं। ऐसे भी कार्य हैं जो बिना धन दिए भी किए जा सकते हैं। इसके तहत सामाजिक कार्यों में भाग लें, जरूरत पड़ने पर एक दूसरे के काम में सहायता करें, अभिवृद्धि के लिए परस्पर सहयोग करें। समाज में तनाव लाने वाली कोई समस्या उत्पन्न हो जाय तो उसे शान्तिपूर्वक सुलझाने में योगदान करें आदि।

सामाजिक सेवा–कार्य में यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि कोई ऐसी सेवा न की जाय जिससे सेवित व्यक्ति परावलम्बी (parasite) और जाहिल बन जाय। वही सेवा उचित है जो सेवित को स्वावलम्बी और श्रमशील बनावे। कई धनी लोग गरीबों को जो दान बाँटते हैं तो प्रायः

उससे उन गरीबों का हित होने की अपेक्षा अहित ही अधिक होता है। अतः ऐसे "सेवा कार्य" से बचना चाहिए।

5. टकराव या युद्ध की स्थिति में मैत्रीभाव

पिछले पृष्ठों में कई बार प्रसंगवश यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया जा चुका है कि लड़ाई या दण्ड–व्यवस्था का मैत्रीभावना से विरोध नहीं है बशर्ते वह लड़ाई या दण्ड देने की क्रिया शुद्ध प्रेमभाव से (अर्थात् विपक्षी के कल्याण के भाव से) अथवा शुद्ध कर्तव्यभाव से (अर्थात् स्वार्थ और राग–द्वेष से रहित होकर) की जाए। यह स्पष्ट किया जा चुका है कि मैत्रीभावना का यह अर्थ नहीं है कि दुष्ट को दुष्टता करने दिया जाय या चोर को चोरी करने की छूट दे दी जाय। समाज के हित के लिए एवं स्वयं चोर के हित के लिए भी कठोर उपाय करना आवश्यक है। कहीं कहीं तो प्रेम की ही माँग होती है कि प्रिय व्यक्ति के प्रति कठोर हुआ जाय। यदि हम अपने बच्चे को सच्चा प्रेम करते हैं (अर्थात् उसका हित चाहते हैं) तो उसके द्वारा गलत रास्ता अपना लेने पर और अन्य तरीकों से सही रास्ते पर न आने पर उसके लिए कठोर उपाय करना हमारे प्रेम की ही माँग है। अपराधी को दण्ड देना धर्म है।

अतः यदि कोई व्यक्ति हमसे शत्रुता कर रहा हो और हमारा नुकसान करना चाह रहा हो, कोई लुटेरा हमारा सामान छीन रहा हो या घर में घुसकर चोरी–डकैती कर रहा हो, कोई बलात्कारी बलात्कार करना चाह रहा हो, तो अपने पास उपलब्ध साधन और बल के आधार पर उसका प्रतीकार करना उचित है। हाँ, यह ध्यान रखना आवश्यक है कि ऐसा न हो कि उपराधी अपने काम में सफल हो जाय और हम उससे लड़ाई करने में उलटे शहीद हो जायँ। अति उत्साह में शूली पर चढ़ जाना नादानी है। जहाँ अपना कोई बल न काम करे वहाँ चतुराई से काम लेना चाहिए, बुद्धि, बल और चतुराई भी बल है। कृष्ण ने महाभारत का धर्म–युद्ध बहुत हद तक चतुराई से जीता था। ईसामसीह ने अपने शिष्यों को उपदेश दिया है "तुम पण्डुक पक्षी की भाँति सरल और भोलाभाला रहो, किन्तु सर्प के समान बुद्धिमान होओ (Be ye innocent like a dove and wise like a serpent)।

कई प्रकार के बल होते हैं, जैसे शरीर–बल, आत्म–बल, मनोबल या इच्छा शक्ति का बल, बुद्धिमानी और चतुराई का बल, धनबल, शस्त्रबल, सहयोगियों का बल, न्याय–तंत्र (judiciary) का बल, आदि आदि। जो भी बल अपने पास उपलब्ध हो उससे बुराई का प्रतीकार करना चाहिए। किन्तु ध्यान रखने की बात है कि प्रतिकार या लड़ाई स्वार्थवश या अहंकार वश या माफिया वाला अपना वर्चस्व बनाने के लिए, या क्रोधवश या बदला लेने के भाव आदि से न हो वरन् शुद्ध प्रेम अथवा शुद्ध कर्तव्य के भाव से हो। कर्तव्य–भाव से और प्रेमभाव से लड़ेंगे तो यह धर्मयुद्ध होगा। यही धर्मयुद्ध कृष्ण ने अर्जुन को लड़ने के लिए कहा है। इस युद्ध का मैत्रीभावना से कोई विरोध नहीं है। कई लोग ऐसे होते हैं जो स्वभाव से सरल और भले हैं किन्तु हस्तक्षेप करने वाले या आग्रही (assertive) नहीं होते। ऐसे लोगों के परिवार में या अधीनस्थ कर्मचारियों द्वारा अनुचित कार्य होते हैं और ये प्रतीकार नहीं करते, वरन् पीड़ित को कहते हैं – "जाने दो"। ऐसे "भले" लोग परिवार का और समाज का अहित ही करते हैं। ऐसा "भला" नहीं होना चाहिए। तात्पर्य यह कि बुराई से यथाशक्ति लड़ाई करना तो धर्म की और प्रेम की माँग है।

6. क्रोध की मनःस्थिति में मैत्रीभावना

यह सामान्य अनुभव है कि क्रोध की अवस्था में मैत्रीभावना नहीं रह जाती क्योंकि क्रोध में हम अपना विवेक खो देते हैं और ऐसी बात कह बैठते हैं और ऐसा काम कर बैठते हैं जो अनुचित भी होता है और बहुत हानिकारक भी होता है – अपने लिए भी हानिकारक होता है और जिसके प्रति क्रोध करते हैं उसके लिए भी हानिकारक होता है। वैसे, समाज में कोई व्यक्ति अन्याय एवं अत्याचार कर रहा है उसके प्रति जो क्रोध आता है उसे सात्त्विक क्रोध कहते हैं, अंग्रेजी में उसे "इंडिग्नेसन" (Indignation) कहते हैं। सात्त्विक क्रोध उतना बुरा नहीं होता क्योंकि इसमें स्वार्थ का भाव नहीं रहता वरन् न्याय का भाव रहता है। किन्तु सामान्यतया जो क्रोध होता है वह अपने स्वार्थ और अहंकार पर चोट लगने पर होता है। क्रोध आन्तरिक संवेग है जिसके हम वशीभूत हो जाते हैं, हम अपने ही द्वारा परवश हो जाते हैं और विवेक खो बैठते हैं। क्रोध कोई बाहरी नुकसान करे या न करे, किन्तु अपने मन को तो उद्वेलित और दुःखी कर ही देता है, मन

की शान्ति नष्ट कर ही देता है। अतः अपने मानसिक स्वास्थ्य के लिए एवं दूसरों को पीड़ा न पहुँचे इसके लिए भी क्रोध से मुक्ति पाना आवश्यक है। ऐसा नहीं है कि हम क्रोध का या क्रोध से होने वाली हानि का निवारण नहीं कर सकते। इसके निवारण का भी उपाय मैत्रीभावना है। किन्तु प्रश्न यह है कि क्रोध की अवस्था में मैत्रीभावना कैसे हो पाएगी?

उत्तर में हम कहेंगे कि क्रोध अपने आप नहीं पैदा होता, उसे पैदा करने या उत्तेजित करने में कोई बाहरी व्यक्ति या घटनाक्रम जिम्मेदार होता है। उसे "उत्तेजक" (stimulus) कहते हैं, और उत्तेजक की प्रतिक्रिया में हम अपनी ओर से जो कहते या करते हैं उसे "प्रत्युत्तर" (response) कहते हैं। यह स्पष्ट है कि "उत्तेजक" (stimulus) तो बाहरी है और उसपर हमारा कोई वश नहीं है, किन्तु "प्रत्युत्तर" (response) तो हमारे हाथ में। उत्तेजक (stimulus) को तो हम नहीं रोक सकते लेकिन हम क्या प्रत्युत्तर दें इसका स्वातंत्र्य तो हमें है ही। किन्तु सामान्यतया होता यह है कि "स्टिमुलस" (stimulus) होने पर हम बिना सोचे समझे भावावेश में तुरन्त प्रत्युत्तर कर बैठते हैं।

अब यहां यह समझना है कि "स्टिमुलस" और "रिस्पॉन्स" (response) के बीच जो रिक्ति (गैप, gap) है और जिसे हम अपने भावावेश में समाप्त कर दे रहे हैं, उस रिक्ति (gap) का उपयोग सोचने विचारने में और मैत्रीभावना लाने में किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, किसी ने हमें गाली दिया या अपमानजनक शब्द कहा तो हम क्रोधित हो उठते हैं और बिना "गैप" (gap) दिए तुरन्त प्रतिक्रिया कर बैठते हैं। रास्ते में जाते समय किसी ने धक्का दे दिया या वाहन टकरा दिया तो हम तिलमिला उठते हैं और तुरन्त प्रत्युत्तर (response) में लड़ बैठते हैं या मार–पीट भी करने लगते हैं। ऐसे समय इतने संयम की आवश्यकता है (और इतना संयम हम प्रयत्न पूर्वक कर सकते हैं) कि स्टिमुलस के बाद तुरन्त रिस्पॉन्स न दिया जाय वरन् स्टिमुलस और रिस्पॉन्स के बीच रिक्ति (गैप gap) कर दिया जाय और इस गैप में मैत्रीभावना याद की जाय। इस गैप को थोड़ा बढ़ा देने से हमें अपने क्रोध का नियमन करने के लिए या क्रोध शान्त होने के लिए समय मिल जाएगा। इस गैप में हम मैत्रीभाव पूर्वक अपने को उस व्यक्ति में डालकर उसकी सोच को समझने का प्रयत्न करें। यदि हमारी

गलती हो या हमारी भी गलती हो तो अपनी गलती के लिए तुरन्त माफी माँगें। गलती के लिए माफी माँगना छोटाई नहीं है वरन् बड़प्पन का लक्षण है। अहंकारवश हम अपनी गलती नहीं मानते हैं और अपनी छोटी चेतना में ही सीमित रह जाते हैं। विकसित चेतना वाले बुद्धिमान व्यक्ति अपनी छोटी सी गलती पर भी अपने से छोटे लोगों से भी क्षमा माँग लेते हैं। ऐसा करना कठिन नहीं है, केवल अपने "अहं" को छोड़ने की बात है। मैत्रीभावना के अभ्यास से यह "अहं" अपने आप छूट जाता है।

कई लोग तो अपने कार्य में बार बार असफल होने पर अकारण ही क्रुद्ध हो जाते हैं और अपने कार्य–उपकरणों को अपने ही हाथों तोड़–फोड़ देते हैं और/या जो भी सामने आता है उसी पर अपना गुस्सा उतारने लगते हैं। ऐसा अपने छिपे 'अहं' के कारण अथवा 'अहं' के असफल होने से उत्पन्न अवसाद के कारण होता है। इसका उपाय यही है कि निरंतर मैत्रीभावना का अभ्यास किया जाय।

'उत्तेजक' (stimulus) और 'प्रत्युत्तर' (response) के बीच रिक्ति (gap) बनाकर विचार करने पर यह समझ में आवे कि हमारी गलती नहीं है, गलती उसी की (उत्तेजक की) ही है, तब भी तत्काल प्रतिक्रिया न करें; क्रोध शान्त होने के बाद सोच–समझ कर उचित प्रतिक्रिया करें। यदि दण्डात्मक कारवाई करने की आवश्यकता हो तो उसे भी कर सकते हैं, किन्तु क्रोध के आवेश में न हो।

यदि कोई व्यक्ति (उत्तेजक) हमारे प्रति अपमान जनक व्यवहार करे तो अपमान करना या न करना तो उत्तेजक के हाथ में है किन्तु अपमानित होना या न होना हमारे हाथ में है। अपमानित होने का अर्थ है अपने को अपमानित महसूस करना, अर्थात् अपने को अपमानित मानना। यदि हम अपने को अपमानित नहीं मानते तो अपमान कहाँ हुआ? यदि हमारा अहंकार बहुत तीव्र है तो हम अपने को अपमानित महसूस करने से नहीं रोक पाएँगे, अन्यथा हम स्वयं न चाहें तो अपमानित नहीं महसूस कर सकते हैं। यह अलग बात है कि जिसने ("उत्तेजक" ने) अभद्र व्यवहार किया उसने अनुचित किया और उसके सुधार के लिए उसे दण्ड मिलना उचित है। किन्तु जहाँ तक मेरे स्वयं अपमानित होने का प्रश्न है, मैं स्वयं न चाहूँ तो अपना अपमान मानूँ ही नहीं अर्थात् अपमानित होऊँ ही नहीं।

गाँधी जी ने एक बहुत व्यावहारिक ज्ञान की बात कही है – ''कोई व्यक्ति बिना मेरी अनुमति के मुझे अपमानित नहीं कर सकता'' ("Nobody can insult me without my permission")। अपने को अपमानित मानना ही अनुमति देने का अर्थ है।

इस संदर्भ में एक सन्त की कथा आती है। ऐसी कहानियों का निष्कर्ष प्रथम दृष्ट्या देखने पर तो कोरे आदर्श जैसा लगता है, किन्तु ऐसी कहानियाँ व्यावहारिक जीवन की समस्याओं का वास्तविक समाधान प्रस्तुत करती हैं। कहानी है कि एक संत थे। सन्त लोग स्वाभाविक रूप से निरहंकार एवं सहनशील होते हैं। एक दिन एक अर्धविक्षिप्त व्यक्ति संत के पास गया और संत को गालियाँ देने लगा। कुछ देर तक वह गालियाँ देते रहा और अपमान जनक व्यवहार करता रहा। संत चुपचाप मुस्कराते हुए उसकी गालियाँ सुनते रहे। कुछ देर के बाद जब वह चुप हो गया तो संत ने उससे पूछा – ''यदि आप कोई वस्तु मुझे दें और मैं उसे स्वीकार न करूँ तो वह वस्तु कहाँ जाएगी?'' उस व्यक्ति ने झट उत्तर दिया – ''वह जाएगी कहाँ, वह मेरे ही पास रह जाएगी''। तब संत का प्रत्युत्तर था – ''आपने मुझे जो गाली दी है उसे मैं स्वीकार नहीं कर रहा हूँ, कृपया उसे आप अपने ही पास रक्खें''। स्पष्ट है कि गाँधी जी ने जो कहा उसी का यह उदाहरण है।

पिछले अध्याय में मैत्रीभावनाके पूरक के रूप में जो आत्मविश्रान्ति योग (जिसे भक्तियोग की दृष्टि से भक्तिभावना कहा गया है) बताया गया है; उसे भी समय समय पर करते रहें तो मैत्रीभावना के अभ्यास में सरलता होगी और शीघ्र परिपूर्णता की प्राप्ति होगी। पिछले अध्याय में यह भी चर्चा हो चुकी है कि भक्तिभावना का तर्कसंगत (rational) अथवा विवेकसंगत अर्थ है आत्मा (परम आत्मा) में विश्रान्ति अथवा यों कहिए कि परमात्म स्वरूप सत्य में विश्रान्ति। अतः भक्तिभावना आत्मविश्रान्ति (परमात्म विश्रान्ति) का योग है और मैत्रीभावना आत्मप्रसार का योग है। आत्म–विश्रान्ति एवं आत्मप्रसार ये दोनों एक ही योग के दो रूप (aspects) हैं, अतः इन दोनों का साथ साथ अभ्यास करते रहना अति उत्तम है।

परिशिष्ट (Appendix) – I

काशी के सुकरात – प्रो0 लालजी राम शुक्ल

काशी मनोविज्ञानशाला के संस्थापक–संचालक पं0 लालजी राम शुक्ल काशी की एक विभूति थे। उनकी मित्रमण्डली में डॉ0 राजबली पाण्डेय (कुलपति जबलपुर विश्वविद्यालय), डॉ0 हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ0 गोपाल त्रिपाठी, श्री राजाराम शास्त्री, डॉ0 रामअवध द्विवेदी, पं0 विश्वनाथ प्रसाद मिश्र आदि थे। उनका अधिकांश समय अध्ययन–चिन्तन में व्यतीत होता था। वे सादा जीवन और उच्च विचार की प्रतिमूर्ति थे। खाने–पहनने की उन्हें चिन्ता नहीं रहती थी। भोजन में जो मिला वही खा लिया और कपड़े जैसे मिले पहन लिये। उनके कपड़े प्रायः अस्त–व्यस्त रहते थे। इसी से डॉ0 राजबली पाण्डेय ने उन्हें 'काशी के सुकरात' की मानद उपाधि दे डाली थी।

जीवन–वृत्त

शुक्ल जी का जन्म 4 अप्रैल 1904 ई0 को होशंगाबाद (मध्य प्रदेश) जनपद के वाचाबानी गांव में हुआ था। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा गांव में ही हुई। होशंगाबाद जाकर उन्होंने प्रथम श्रेणी में मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण की। उसके बाद कुछ दिनों के लिए जबलपुर के शस्त्रास्त्र कारखाने में उन्होंने नौकरी कर ली। परन्तु पढ़ने की उत्कट अभिलाषा के कारण नौकरी छोड़ कर काशी चले आए। यहां आकर वे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हुए। परन्तु महात्मा गांधी का असहयोग आन्दोलन आरम्भ होने पर उन्होंने पढ़ाई छोड़ दी और आचार्य कृपलानी के साथ काम करने लगे। कुछ दिनों के लिए वे महात्माजी के साबरमती आश्रम में भी गये थे। वहां उनका मन नहीं लगा। अतः पुनः काशी लौट आए। यहां आकर उन्हें श्री योगेश चन्द्र चट्टोपाध्याय का सान्निध्य मिला। उनसे उन्होंने गीता, उपनिषद् आदि के साथ अंग्रेजी का भी अभ्यास किया। 1925 में उन्होंने पुनः विश्वविद्यालय की शिक्षा ग्रहण करने के लिए इण्टरमीडिएट में नाम लिखाया। उस समय इनके सहपाठियों में श्री प्रकाश चन्द्र गुप्त (बाद में इलाहाबाद विश्वविद्यालय

में अंग्रेजी के आचार्य) श्री राम मनोहर लोहिया, कु0 भक्ति अधिकारी आदि कुशाग्रबुद्धि छात्र थे। सबने प्रथम श्रेणी में इण्टर परीक्षा उत्तीर्ण की। बी0ए0 में केवल कु0 भक्ति अधिकारी रह गयी परन्तु श्री कालूलाल श्रीमाली आ गये जिनका साथ एम0ए0 (दर्शन) तक रहा।

1931 में शुक्ल जी ने प्रथम श्रेणी में कीर्तिमान अंक प्राप्त करके एम0ए0 परीक्षा उत्तीर्ण की। उसी वर्ष उनका विवाह हो गया, परन्तु पत्नी आधुनिका थी जिसे इनका सादा जीवन पसंद नहीं था। अतः वह उन्हें छोड़ कर अपने पिता–माता के पास चली गई और बहुत कहने पर भी नहीं लौटी।

पत्नी के व्यवहार से निराश होकर शुक्ल जी अमलनेर (महाराष्ट्र) के एक निजी शोध संस्थान में शोधकार्य हेतु चले गए। वहां एक वर्ष बाद संस्थान के संचालक सेठ से अनबन हो गई। अतः शुक्लजी पुनः काशी आ गए और सेन्ट्रल हिन्दू स्कूल में अध्यापक हो गए। 1933 की जुलाई में उन्होंने बी0टी0 में प्रवेश लिया और 1934 में पुनः सेन्ट्रल हिन्दू स्कूल में अंग्रेजी के अध्यापक हो गए। दूसरे ही वर्ष उनका स्थानान्तरण टीचर्स ट्रेनिंग कालेज में हो गया। उन्हीं दिनों माँ के आग्रह से उन्होंने अपने ही देहात की एक कन्या से विवाह कर लिया। वह कन्या सती सावित्री के समान इनकी जीवन संगिनी सिद्ध हुई। वह पति सेवा को ही अपना धर्म समझती थी और शुक्ल जी की सीमित आय में परिवार का काम चलाती थी। उसे न तो आभूषणों की आकांक्षा थी न अच्छे कपड़ों की चाह। वह अपने बच्चों की ही नहीं वरन् मानसिक चिकित्सा के लिए आये हुए छात्रों को भी जलपान और भोजन तैयार करके देती थी। इस प्रकार शुक्लजी की सेवा में रहकर उसने चार कन्याओं और दो बालकों को जन्म दिया। 1981 में उस देवी का देहान्त हो गया।

लेखन कार्य

शुक्ल जी ट्रेनिंग कालेज में अंग्रेजी में व्याख्यान देते थे। शिक्षा मनोविज्ञान उनका विषय था। उक्त विषय पर वे कभी–कभी लेख भी लिखते रहते थे। धार्मिक विषयों पर उनके लेख महामना मालवीय जी के सनातन धर्म साप्ताहिक पत्र में निकलते रहते थे। शुक्ल जी की पहली पुस्तक 'ग्राउंडवर्क ऑफ एजूकेशनल साइकॉलोजी' प्रकाशित हुई जिसको बी0टी0 के छात्रों ने बहुत पसंद किया। उन दिनों प्रख्यात प्रधानाचार्य पं0

रामनारायण मिश्र हिन्दू स्कूल के प्रधानाध्यापक थे। उन्होंने शुक्लजी को हिन्दी में पुस्तकें लिखने को प्रेरित किया। अतः उनकी पुस्तक 'शिक्षा–मनोविज्ञान' निकली। फिर तो पुस्तकें लिखने का ऐसा तांता लगा कि धीरे–धीरे उनकी बीस–बाइस पुस्तकें प्रकाशित हो गईं जिनमें से अनेक मानसिक चिकित्सा के सम्बन्ध में हैं। उन पुस्तकों से शुक्लजी को काफी आय होने लगी जिससे उन्होंने अपना निजी मकान बनवा लिया। मनोविज्ञान पर अध्ययन, मनन और लेखन के कारण शुक्लजी का परिचय डॉ0 भगवानदास, डॉ0 सर्वपल्ली राधाकृष्णन, पं0 इकबाल नारायण गुर्टू आदि से हो गया जिनका वरद् हस्त बराबर उनके ऊपर बना रहा।

काशी मनोविज्ञानशाला की स्थापना

शुक्लजी ने फ्रायड, युंग, ऐडलर, ब्राउन आदि मानसिक चिकित्सकों का गम्भीर अध्ययन किया था। इन मनोवैज्ञानिकों का उन पर इतना प्रभाव पड़ा कि उन्होंने उनकी मानसिक चिकित्सा विधियों पर प्रयोग प्रारम्भ किया। कुछ ही समय में उन्हें पर्याप्त सफलता मिली। उन्होंने गीता, उपनिषद् के साथ ही अन्य आध्यात्मिक ग्रंथों का मनन किया था। आनन्द कोसल्यायन और अपने सहपाठी जगदीश काश्यप से (जो बौद्ध हो गए थे) बौद्ध धर्म में प्रचलित आनापानसति (योगाभ्यास की एक क्रिया) के विषय में पर्याप्त जानकारी प्राप्त की। अतः फ्रायड आदि की मनोविश्लेषण पद्धति से भिन्न आनापानसति, शिथिलीकरण तथा मैत्री–भावना के अभ्यास द्वारा उन्होंने मानसिक रोगियों को अच्छा करना आरम्भ किया। इस कार्य में सफलता मिलने पर उन्होंने काशी मनोविज्ञानशाला की स्थापना की जिसके संचालक वे स्वयं थे और मैं मंत्री था। कार्यकारिणी में डॉ0 राजबली पाण्डेय, डॉ0 रामअवध द्विवेदी, श्री अनिरुद्ध कुमार रस्तोगी आदि थे। पहले तो मनोविज्ञानशाला की साप्ताहिक बैठकें उनके घर में ही हुआ करतीं थीं परन्तु कुछ ही दिनों में एक भूमि का टुकड़ा मिल गया और धीरे–धीरे मनोविज्ञानशाला का अपना भवन बन गया।

यद्यपि छात्र जीवन में ही शुक्लजी से मेरा परिचय हो गया था फिर भी घनिष्ठता न थी। 1948 में जब मेरी नियुक्ति टीचर्स ट्रेनिंग कालेज में हुई तो हमारी घनिष्ठता बढ़ गई और मैं उन्हें 'भाई साहब' कहने लगा। भाई साहब ने एक मासिक पत्र निकालने का विचार किया जिसके माध्यम से माता–पिता और अभिभावकों को बच्चों के उचित लालन–पालन और शिक्षा–दीक्षा के सम्बन्ध में परामर्श देने का विचार था। अतः जनवरी 1949

में 'सुखी बालक' मासिक पत्र का जन्म हुआ। उसमें मनोवैज्ञानिक लेखों के अतिरिक्त बच्चों के लिए भी कुछ सामग्री रहती थी। पत्र का अच्छा स्वागत हुआ परन्तु ग्राहक संख्या इतनी नहीं थी कि वह स्वावलम्बी हो सके। सरकारी सहायता के अभाव में उसे अधिक दिनों तक घाटे पर चलाना कठिन था। अतः 1950 के दिसम्बर में पत्र बन्द कर देना पड़ा।

मनोविज्ञानशाला के वार्षिक उत्सवों में देश के गण्यमान्य विद्वान अध्यक्ष के रूप में आमंत्रित किये जाते थे। बाबू सम्पूर्णानन्द, बाबू पुरुषोत्तमदास टण्डन, पं0 इकबाल नारायण गुर्टू, पं0 कमलापति त्रिपाठी, हिन्दू विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ0 सी0पी0 रामास्वामी अय्यर इत्यादि ने मनोविज्ञानशाला के वार्षिकोत्सवों में अध्यक्षता की। एक बार कवि सम्मेलन भी आयोजित किया गया था। सेन्ट्रल हिन्दू स्कूल के तत्कालीन प्रधानाचार्य डॉ0 आटो बुल्फ शुक्लजी की मानसिक चिकित्सा से बहुत प्रभावित थे। अतः मनोविज्ञानशाला में रुचि लेते थे। एक बार उन्होंने मानसिक चिकित्सा पर अपना एक निबन्ध भी पढ़ा था।

प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक युंग काशी आये थे तब उन्हें भी मनोविज्ञानशाला में आमंत्रित किया गया था। वे यहां की चिकित्सा पद्धति से बहुत प्रभावित हुए थे। डॉ0 राजनीश भी एक बार इसमें आये थे।

मनोविज्ञान पत्र का प्रकाशन

'सुखी बालक' से बहुत से लोग लाभान्वित हुए थे। हमारे सहयोगी श्री रामचन्द्र शुक्ल ने उसी में लेख लिखकर ख्याति प्राप्त की और बाद में कला पर उनकी अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुईं। अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के गणितज्ञ डॉ0 जयन्त नारलीकर उन दिनों कक्षा 6–7 में पढ़ते थे, वे अंग्रेजी की कहानियों का अनुवाद करके भेजते थे जिसे हम 'सुखी बालक' के बाल पृष्ठ में प्रकाशित करते थे। उस पत्र के बन्द हो जाने पर अनेक लोगों का आग्रह था कि वह पत्र फिर निकाला जाए। परन्तु उसकी अपेक्षा मनोविज्ञान तथा मानसिक चिकित्सा पर पत्र निकालना अधिक उपयोगी जान पड़ा। अतः 'मनोविज्ञान' नाम का मासिक पत्र निकाला गया। इस पत्र को उ0प्र0 के तत्कालीन मुख्यमंत्री डॉ0 सम्पूर्णानन्द तथा शिक्षा मंत्री पं0 कमलापति त्रिपाठी का संरक्षण प्राप्त हो गया और उसकी कुछ प्रतियाँ उ0प्र0 सरकार खरीदने लगी। अतः पत्र कई वर्षों तक चला। डॉ0 सम्पूर्णानन्द के राजस्थान का राज्यपाल हो कर चले जाने से सरकारी सहायता बन्द हो गई और पत्र लड़खड़ा गया। उसके बाद वर्ष में उसके चार अंक ही निकाले जा सके जिसका सम्पूर्ण व्यय भाई

साहब और उनके शिष्य वहन करते थे।

मनोविज्ञानशाला के कार्यों में हिन्दू विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के युवा प्राध्यापक श्री कमलाकर मिश्र बड़ी रुचि लेते रहे हैं। उन्होंने आनापानसति और मैत्री भावना का अभ्यास स्वयं किया और बहुत से रोगियों को कराया। आजकल वे मैत्री भावना पर प्रयोग कर रहे हैं जिसका विवरण उन्होंने एक पुस्तिका में प्रकाशित किया है। कमलाकर जी ने 'मनोविज्ञान' पत्र के सम्पादन में भी पर्याप्त योगदान किया था और शाला की साप्ताहिक बैठकों में नियमित रूप से भाग लेते थे।

मानसिक चिकित्सा के कार्य में डॉ0 कालूलाल श्रीमाली का भी अच्छा अनुभव था। अतः जब वे हिन्दू विश्वविद्यालय के कुलपति होकर आये तब वे भाई साहब के कार्यों से बहुत प्रभावित हुए और मनोविज्ञानशाला में आये, तथा यहां की चिकित्सा पद्धति की प्रशंसा की।

मानसिक चिकित्सा तो हजारों रोगियों की हुई परन्तु कुछ ऐसे रोगी भी यहाँ आए और अच्छे होकर गये जो रांची तथा आगरा के मानसिक चिकित्सालयों से निराश होकर लौटे थें। हक्लाहट, भूतप्रेत बाधा, हिस्टीरिया, कुत्ते के काटने से मानसिक रोगस्त अनेक रोगी यहां से नीरोग होकर गये। एक सम्पन्न घराने का बारह वर्ष का लड़का बिछौना भिगो दिया करता था। उसकी चिकित्सा डाक्टरों ने की परन्तु वह अच्छा नहीं हुआ। भाई साहब ने उसे रोग मुक्त कर दिया। इस प्रकार अनेक रोगी यहां से रोग मुक्त हुए।

कुछ रोगी तो मनोविज्ञानशाला में रहकर चिकित्सा कराते थे परन्तु कुछ दूर से आने में असमर्थ होने के कारण पत्र द्वारा अपने रोगों का विवरण लिखते थे। पत्राचार द्वारा उनकी चिकित्सा होती थी। इस सम्बन्ध में भाई साहब को कभी–कभी एक दिन में 50 पत्र लिखने पड़ते थे। पर उनके स्नेह–सिक्त पत्रों से ही रोगी अच्छे हो जाते थे।

सम्मान और पुरस्कार

भाई साहब की मनोविज्ञान साहित्य सेवा का यथोचित सम्मान शिक्षा के क्षेत्र में नहीं हुआ। हाँ, यू0जी0सी0 ने तीन वर्षों के लिए उन्हें मानद प्रोफेसर के रूप में काशी विद्यापीठ में नियुक्त किया था। यद्यपि विश्वविद्यालयों तथा महाविद्यालयों में उनकी शिक्षा तथा मनोविज्ञान की पुस्तकें बहुत लोकप्रिय थीं फिर भी हिन्दू विश्वविद्यालय के अधिकारियों ने उनके महत्त्व को स्वीकार करके उनको यथोचित सम्मान नहीं दिया। उनके शिष्य डॉ0 रामलाल सिंह (भूतपूर्व अध्यक्ष उ0प्र0 लोक सेवा आयोग) के प्रयास से उ0प्र0 हिन्दी संस्थान

ने उनकी साहित्य सेवा से प्रभावित होकर 1980 में उन्हें बीस हजार रुपये की राशि पुरस्कार स्वरूप प्रदान की।

जीवन संध्या और निर्वाण

पत्नी के देहान्त के बाद भाई साहब टूट गये। बुढ़ापे में उनकी सेवा करने वाला कोई न रहा। उनके शिष्य और भक्त आर्थिक दृष्टि से उनकी सहायता करते रहते थे परन्तु शरीर की सेवा के लिए उनका अनन्य सेवक अजीत जायसवाल ही था। उनके कनिष्ठ पुत्र मदन शुक्ल पिता की सेवा करने के लिए काशी छोड़कर बाहर न जा सके। उनकी आंखों की ज्योति कम हो गई थी। एक आंख में मोतियाबिंद पक गया था। अतः उसका आपरेशन हो गया और उसमें ज्योति आ गई जिससे वे अपना काम धाम कर सकते थे। दो वर्ष पूर्व उन्हें पक्षाघात का आक्रमण सहना पड़ा। एक शिष्य द्वारा जमशेदपुर के अस्पताल में चिकित्सा कराने से अच्छे हो गये थे। एक दिन चारपाई से उतरते समय गिर पड़े और कूल्हे की हड्डी खिसक गई। स्थानीय रामकृष्ण मिशन के अस्पताल में चिकित्सा हुई। एक माह तक अस्पताल में ही रहे परन्तु प्लास्टर काटने पर पता चला कि हड्डी ठीक से जुड़ी नहीं। उसी के बाद उनकी पौरुष ग्रंथि रुग्ण हो गई जिससे चारपाई से उठ नहीं सकते थे। उनकी कनिष्ठा पुत्री सुमन तथा उसके पति डॉ0 सूर्यनाथ प्रसाद उन्हें चन्द्रपुर (महाराष्ट्र) ले गये। वहीं 20 जनवरी 1985 को उनका शरीरान्त हो गया।

भाई साहब कबीरदास को बहुत मानते थे और उनकी रचनाओं से प्रायः उद्धरण दिया करते थे। अतः 'जो कबिरा काशी मरे तो रामहिं कौन निहोरा' का स्मरण करके काशी से बाहर जाकर उन्होंने प्राण त्याग किया।

चन्द्रपुर में भाई साहब के अनन्य शिष्य डॉ0 सूर्यकान्त झा (प्राचार्य, जनता प्रशिक्षण महाविद्यालय) उनकी चिकित्सा कराने में तत्पर थे। परन्तु डॉक्टरों के प्रयास करने पर भी उनकी आत्मा शरीर का बंधन त्याग कर चली गयी।

डॉ0 झा तथा उनके महाविद्यालय के छात्रों ने यथोचित सम्मान के साथ उनकी अन्त्येष्टि की। काशी की एक विभूति चली गई। उनके मित्र, शिष्य और सगे सम्बन्धी सभी उनके वियोग से व्यथित हैं। ईश्वर उनकी आत्मा को शान्ति प्रदान करे।

प्रो0 रमापति शुक्ल
भूतपूर्व यू0जी0सी0 प्रोफेसर
निदेशक, शिक्षा विभाग,
काशी विद्यापीठ, वाराणसी
तारीख – 20.12.1985

परिशिष्ट (Appendix) – II

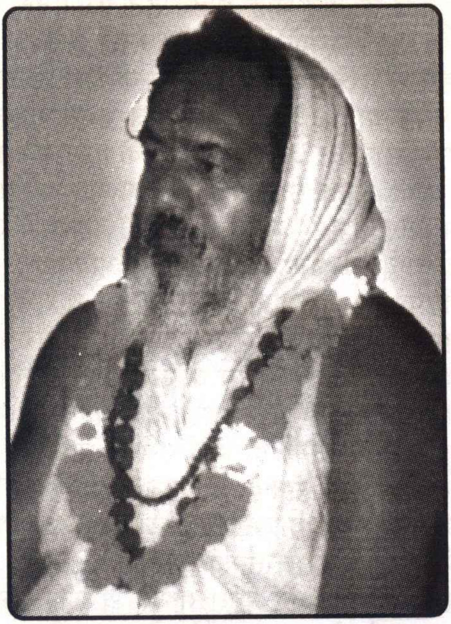

मैत्रीभावना के दूसरे उदाहरण पुरुष, "मंगल–गीत" के रचयिता बाबा कल्याणदास जी महाराज (अमरकण्टक वाले)

मंगल गीत (Song of Wishing Well)

(अमरकण्टक वाले बाबा कल्याण दास जी द्वारा विरचित)

शुभ मंगल हो, शुभ मंगल हो; शुभ मंगल मंगल मंगल हो।

May all be good and well, may all be good and well; may all be good good and good.

(1) नभ मंगल हो, जल मंगल हो; धरती का कण कण मंगल हो।

शुभ मंगल हो................................ ।।

May the sky be good, may the water be good; may every particle of earth be good.

May all be good ....A

(2) दिन मंगल हो, निशि मंगल हो; जीवन का हर क्षण मंगल हो।

शुभ मंगल हो .... ।

May the day be good, may the night be good; may every moment of life be good.

May all be good.........................A

(3) तन मंगल हो, मन मंगल हो; श्रम से अर्जित धन मंगल हो।

शुभ मंगल हो...................................... ।

May the body be good, may the mind be good; may the labour-earned maney be good.

May all be good...........................A

(4) मति मंगल हो, गति मंगल हो; मानव की हर कृति मंगल हो।

शुभ मंगल हो.................................... ।

May the thought be good, may the action be good; may every work of man be good.

May all be good.............................A

शुभ मंगल हो, शुभ मंगल हो; शुभ मंगल मंगल मंगल हो।

May all be good and well, may all be good and well, may all be good good and good.

काशी योग एवं मूल्य-शिक्षा संस्था का संक्षिप्त परिचय

देश के आर्थिक विकास के सुखद आँकड़ों के बावजूद आज भी भारतीय समाज अभी पिछड़ा हुआ ही है, गाँवों की गरीब जनता विकास से अछूती है। गरीबी एवं पिछड़ापन के अन्य कारणों में से एक प्रधान कारण यह है कि समाज में नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों का अत्यधिक ह्रास हुआ है। समाज में जो मूल्यहीनता की अवस्थिति (Value-Crisis) है, उससे सांस्कृतिक, ह्रास तो होता ही है, साथ ही आर्थिक विकास भी अवरुद्ध हो जाता है। यह दु:स्थिति गाँवों में विशेष रूप से परिलक्षित हो रही है। वहाँ के लोगों में प्रेम एवं परस्पर सहयोग के भाव का अभाव, लड़ाई-झगड़ा, मुकदमाबाजी, परस्पर खींच-तान आदि के कारण गरीबी भी है और मानसिक सुख-शान्ति का अभाव भी है।

गरीबी रेखा के भीतर रहने वाले लोगों के आर्थिक विकास हेतु उन्हें उद्यमी एवं स्वावलम्बी बनाने का प्रयास किया जाय, साथ ही उनमें मानवीय मूल्यों के प्रति चेतना जागृत की जाय इसकी आवश्यकता है। प्रेम, सौहार्द, परस्पर सहयोग एवं सहायता की भावना, नैतिक भावना आदि के विकास का प्रयास किया जाय यह आवश्यक है।

इस उद्देश्य की पूर्ति का प्रमुख साधन शिक्षा ही है। इस शिक्षा के प्रमुख तीन अंग हैं-

1. मानवीय मूल्यों की शिक्षा (**Education in Human Values**)
2. आजीविका सम्बन्धी शिक्षा (**Vocational Education**)
3. शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक स्वास्थ्य हेतु – योग–ध्यान सम्बन्धी शिक्षा (**Yoga Education**)

उपर्युक्त तीन प्रकार की शिक्षा देने की दृष्टि से स्वामी गुरुशरणानन्द जी महाराज (रमणरेती, महावन, मथुरा) की प्रेरणा से " काशी योग एवं मूल्य-शिक्षा संस्था " की स्थापना सन् २००४ में हुई। इस संस्था का कार्यक्षेत्र वाराणसी, सोनभद्र, बलिया एवं महोबा आदि जिलों का ग्रामीण क्षेत्र है।

संस्था की गतिविधियाँ-

१. पं मदन मोहन मालवीय बालचेतना विकास केन्द्रों के माध्यम से गरीब बच्चों को स्कूली शिक्षा, स्वास्थ्य एवं संस्कार की नि:शुल्क शिक्षा प्रदान करना। वर्तमान में पाँच केन्द्र कार्यरत हैं।
२. योग एवं मैत्री केन्द्रों के माध्यम से ग्रामीण जनता में स्वास्थ्य, परस्पर प्रेम, सौहार्द की शिक्षा प्रदान करना।
३. ग्रामीण ज्ञान केन्द्र के माध्यम से आर्थिक स्वावलम्बन, उन्नत कृषि हेतु प्रशिक्षण कार्यक्रम संचालित करना।
४. स्वास्थ्य शिविरों के माध्यम से विभिन्न रोगों के उपचारार्थ सुविधाएँ उपलब्ध कराना।
५. पर्यावरण संतुलन हेतु वृक्षारोपण एवं जल-प्रबन्धन से सम्बन्धित पर्यावरणीय शिक्षा प्रदान करना।